विचार-वैभव

प्रणेता—

बलिवेदी, प्रेमसमाधी, कर्त्तव्यपथ,
कल्याणी-कृष्णा, वेणीसंहार (हिन्दी)
साहित्य-मणि-माला, पद्य-प्रपात आदि
अनेकों ग्रंथों के रचयिता और सम्पादक

पं० प्रभुनारायण शर्मा चतुर्वेदी
'सहृदय'
साहित्यरत्न, नाट्याचार्य
भूतपूर्व मुख्याध्यापक तथा अध्यक्ष,
साहित्य पाठशाला
जयपुर ।

प्रकाशक—

बा० कन्हैयालाल एण्ड सन्स
बुकसेलर्स एण्ड पब्लिशर्स
जयपुर

प्रथम संस्करण { संवत् १६६१ वि० } मूल्य

अवध-प्रिंटिंग-वर्क्स, चारबाग़,
लखनऊ.

परिचय

प्राणिविद्या के अनुसार "हृदय" शब्द से शरीर के एक पतले, सूक्ष्म और कोमल मांस के टुकड़े का बोध होता है, परन्तु जहाँ तक काव्य-जगत् से इस शब्द का संबंध है, हम इस मानसिक-वृत्ति, भाव और अनुभाव का सञ्चित भाण्डार अथवा स्नेहशीलता, प्रेम, साहस, शक्ति, गुप्त-भावना और अभिप्राय का वास-स्थान कह सकते हैं।

प्रकृति का पहिला प्रतिबिम्ब पड़ने पर उसकी व्यापकता से प्रभावित होकर मानव-मस्तिष्क के प्रतिभा-तत्व-सम्बन्धी अथवा सैद्धान्तिक-भाग की अन्वेषण-प्रवृत्ति, गतिशील होकर कैसे कार्य्य करती है और हृदय में काव्यरचना की भावना का किस प्रकार उद्रेक करती है ? कल्पना एवं अनुभव के स्पष्टीकरण से काव्य में "रस" का सञ्चार किस प्रकार होता है और रसों का प्रवाह आत्मा को परमानन्द या रसावस्था की सीमा तक कैसे पहुँचा देता है ? इस "विचार-वैभव" नामक पुस्तक में ऐसे सब प्रश्नों का उत्तर दिया गया है।

इस पुस्तक में, मैंने काव्य के मूल रागात्मक, मनस्तात्विक और दार्शनिक सिद्धान्तों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

कविता को तुच्छ एवं अवहेलना की वस्तु न समझना चाहिए, कविता के सम्बन्ध में बिना समझे बूझे अपनी राय देना सर्वथा अनुचित है। "विचार-वैभव" में काव्य-सम्बन्धी प्रायः सभी आवश्यक विषयों का समावेश किया गया है और कविता के समस्त प्रचलित रूपों पर प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में निम्नलिखित परिच्छेद हैं :—

(१) काव्य में कल्पना।

(२) रसोद्रेक।

(३) साहित्य का आधार।

(४) कविता का विकास-सिद्धान्त (Theory of Evolution)

(५) काव्य में अलंकार का स्थान।

(६) कविता और उसका प्रभाव।

(७) हमारे साहित्य का सौन्दर्य्य।

(८) नाटक की मनोवैज्ञानिकता।

(९) वादत्रयी (रहस्यवाद, छायावाद और संकेतवाद)।

अधिकांश में, हिन्दी का वर्तमान साहित्य, पाश्चात्य विचारों का एक असंगत रूपक-मात्र है, हिन्दी साहित्य के भिन्न भिन्न प्रमुख विषयों की विवेचना करते हुए "विचार-वैभव" में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि हमारी मातृ-भाषा हिन्दी, स्वतंत्र और मौलिक ग्रन्थ-रचनाओं का सारे विश्व के सामने अनुपम आदर्श रखने में समर्थ हो सकती है।

पुस्तक में, संस्कृत और अंगरेज़ी के कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों से उद्धरण दिये गये हैं और "हृदय" के कार्य्य की परिवर्तनशीलता तथा प्रकृति के भिन्न भिन्न रूपों के दर्शन से उत्पन्न होने वाली ज्ञानतत्व सम्बन्धी एवं मानसिक शक्ति का रचना-क्रम सरल रेखा-चित्रों द्वारा समझाया गया है।

इसी विषय की प्रचलित पुस्तकों के देखते हुए मुझे आशंका है कि मेरी पुस्तक में बहुत बड़ी कमी और अनेकों त्रुटियाँ मिलेंगी मुझे, अपने उन पाठकों से, जो मेरी त्रुटियों को खोजने में समर्थ हों, सविनय प्रार्थना करना है कि "मनुष्य से ही भूल होती है" ऐसा समझ कर, मेरी अल्पज्ञता और त्रुटियों से मुझे सूचित करें जिसके लिये मैं उनका चिर-आभारी रहूँगा। मुझे आशा है, कि इस पुस्तक पर साहित्य-मर्मज्ञों और काव्यालोचकों की सम्मति पाकर, वह चाहे जिस रूप में हो, मेरी आगामी पुस्तक "काव्य-कौस्तुभ" की रचना में मुझे पर्याप्त सहायता मिलेगी।

INTRODUCTION.

The word 'heart' is a Physiological term, means a fabric slice of meat; but so for as it concerns the poetic-world it can better be expressed as the treasure-trove of emotions, sentiments (भाव) and attitudes (अनुभाव) or it can be defined as the seat of affection, love, courage, vigour, secret meaning and design.

How the enquiring activity of the Intellectual (प्रातिभ-तत्व) or Theoretical (सैद्धान्तिक) part of the mind works when the first image of nature effects and impresses it and how far it then stirs up the so defined heart to produce poetry (काव्य) ? How the expression of sentiments in poetry (काव्य) creates relish (रस) and how this all important relish (रस) tends to elevate the soul to the stage of Parmanand (रसावस्था) ? "Vichar-Vaibhava", the present book deals with all these questions.

I have chosen in this booklet to present before the reader how Aesthetic (रागात्मक), Psychological (मनस्तात्विक)

and Philosophical (दार्शनिक) theories (सिद्धान्त) centre in Poetry.

Poetry (काव्य) is not insignificant and negligible. Lack of judgement regarding poetry usually leads to disaster. "Vichar-Vaibhava" touches nearly all the important points and throws light on all the various aspects of poetry.

The book consists of the following Chapters:—

1. काव्य में कल्पना
2. रसोद्रेक
3. साहित्य का आधार
4. कविता का विकास-सिद्धान्त (Theory of Evolution)
5. काव्य में अलङ्कार का स्थान
6. कविता और उसका प्रभाव
7. हमारे साहित्य का सौंदर्य
8. नाटक की मनोवैज्ञानिकता
9. वादत्रयी (रहस्यवाद, छायावाद और संकेतवाद)

Most of the present day Hindi literature is nothing but a picture of western ideas. "Vichar-Vaibhava" dealing with its (Hindi Literature's) various

important topics might confirm the view that our mother tongue Hindi is capable of producing independent and original works of the highest standard.

Sanskrit and English quotations from standard authors have been given and the changes in the working of heart and the conception of nervous and mental Energy produced at the sight of the images of nature have been illustrated by diagrams.

My book, I am afraid, will seem to many lacking in the condiments usually expected in such books. To those whom it does I may appeal and hope that commissions and ommissions being the frailties of human nature will be intimated to me as an obligation. This will be a great encouragement and help in the production of my next work "Kavya Kaustubh".

Sri Janmashtimi. St. 1991. } P. N. SHARMA.

* श्रीहरिः *

"तं वर्षं भारतं नाम भारतीयत्र सन्ततिः"

'देश का साहित्य बढ़ाना ही शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य है'

"हिन्दी साहित्य के प्रचार और प्रोत्साहन की आवश्यकता को हम भली प्रकार अनुभव करते हैं, हिन्दी साहित्य का निर्माण ही हमारे समस्त प्रयत्नों का लक्ष्य, हमारे जीवन का उद्देश्य और हमारा आध्यात्मिक ध्येय होना चाहिये"

"We are deeply sensible of the importance of encouraging the cultivation of vernacular language . . . . We conceive the formation of a vernacular Literature to be the ultimate object to which all our efforts must be directed."

General Committee of
Education, Calcutta,
1835.

१

काव्य में कल्पना*

कल्पना हृदय का विस्तार और मस्तिष्क की आँख है

कल्पना दृश्य जगत् के प्रतिबिम्ब और हृदय के संघर्ष की छवि है। काल और कल्पना का मिलित स्वरूप ही कवि का हृदय है।



मानव-हृदय की रागात्मिका वृत्ति और अपनी मनोगत बात को दूसरे पर प्रकट करने की अनवरत चेष्टा ही काव्य और कल्पना के मूलतत्त्व हैं। मनुष्य जिस बात को स्वयं समझता है—उसे दूसरे को भी समझाने के लिए स्वभावतः उत्सुक रहता है। इस कार्य के सम्पादनार्थ वह ऐसे साधनों का उपयोग करना चाहता है, जिससे अपर व्यक्ति भी उसी रूप में उसे समझ ले—जैसे स्वयम् उसने उसे समझ रक्खा है। बस, इसी साधन को काव्य-क्षेत्र में कल्पना कहते हैं।

---

* Colridge's distinction between IMAGINATION and FANCY was in part the same as this. But he introduced value considerations also, Imagination being such combination or fusion of mental elements as resulted in certain valuable states of mind, and Fancy being a mere trivial playing with these elements.

मनुष्य के मानसिक भावों में एक प्रकार की अदृश्य तथा अविरल चेष्टा होती है, जिसका सम्बन्ध काल द्वारा प्रभावित मन से होता है। मनुष्य की भावना का काम बहुत-से हृदयों में घुस कर, उन्हें अपनेपन का अनुभव करा देना ही है। संसार में चिरन्तन काल से, नाना प्रकारों से अनेक भाषाओं, लिपियों और संकेतों द्वारा यही कार्य होता चला आ रहा है और न जाने कब तक यह प्रयत्न चलता रहेगा। मनुष्य का मस्तिष्क आज कल्पना के रूप में कहीं भूधरों के हृदयपट पर, कहीं प्राचीन भग्नावशेषों के अङ्क में, कहीं भूगर्भ की अदृश्य तहों में अपरिचित अक्षरों के रूप में एक हृदय को अनेक हृदयों से मिला देने का काम कर रहा है। प्राचीन आत्माओं का भाव कल्पना के सहारे सौंदर्यमय होकर दूसरों के हृदय तक पहुँचने के लिए उक्त स्थानों में आज भी कभी-कभी मिल ही जाता है। यह मनोवृत्ति मनुष्य में अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगी; इसी का नाम कविता को जन्म देनेवाले का भाव (विचार) है, और इस भाव को सौन्दर्य प्रदान करनेवाली कला का नाम कल्पना है।

काल और कल्पना का अभिन्न सम्बन्ध है। कवि-हृदय काल का प्रतिबिम्ब है, और काव्य कवि-हृदय का प्रतिबिम्ब। ऐसी दशा में कल्पना, जो कवि के हृद्गत भावों को सौंदर्यमय बनाकर प्रकट करने का साधन है, अवश्य काल की गति पर निर्भर रहेगी।

कवि या लेखक भावों को रुचिकर बनानेवाले साधन को अति कोमल सूक्ष्म और अद्भुत रूप देकर अपने विषय के प्रतिपादन के लिए उपयुक्त बनाता है। किन्तु इसका यह अर्थ कभी नहीं होता कि इसमें सत्य का कोई भी अंश न हो। 'कल्पना' तो सच्ची बात को या कवि द्वारा अनुभूत विषय को सुन्दर ढंग से व्यक्त करने का साधन-मात्र है। इसका अर्थ झूठ और ऊटपटाँग हाँकना नहीं है। जिनका यह विश्वास है कि कल्पना ज़मीन और आसमान के .कुलावे मिला देने का नाम है, मेरे विचार में वे अन्धकार में हैं। यदि कल्पना का अर्थ झूठी लनतरानी है, तो हमारे नज़दीक कवि का भा कोई महत्त्व नहीं।

कवि और कल्पना, दोनों शब्द एकही भाव को वहन करते हैं। समाज में कवि और कलांकार की बड़ी भारी ज़िम्मेदारी है। यदि इतने बड़े उत्तरदायित्व को वहन करनेवाला व्यक्ति इस प्रकार ज़मीन आसमान के निराधार .कुलावे मिलाने पर सन्नद्ध हो जाय, तो हमारे विचार में वह देश, वह जाति और वह साहित्य जिसका पथ-प्रदर्शक वह कवि है, अवश्य अवनति के गर्त में पहुँचे बिना नहीं रह सकते।

कवि कल्पना की कुंजी से वर्ण्य विषय की पिटारी को खोलकर संसार के समस्त आदर्श स्थापित करने का दायित्वपूर्ण भार लेता है। यथा भक्तवर तुलसी ने 'समाज-शास्त्र-विषय' को—कल्पना के पारदर्शी यंत्र के पीछे रख कर लोकनीति और समाज-विज्ञान के आलम्बन भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम

के जीवन के बहाने—प्राकृत रूप में खड़ा कर दिया है। संसार की अभिरुचि आज तुलसी की कल्पना के धागे में लिपटी हुई अखिल विश्व को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार जो दर्शन दे रही है, यह कल्पना का ही काम है।

कल्पना वह साधन है, जिसके द्वारा कवि साधारण से साधारण विषय में दैवी और अलौकिक सौंदर्य का दर्शन करा सकता है, तुच्छ-से-तुच्छ विषय को लोकोपकारी बना दे सकता है और इसी में कवि की महत्ता भी है। यदि वह ऐसा नहीं कर सकता तो संसार के नेता के नाते उसे 'कवि' शब्द से अलंकृत करना महा पाप है।

कल्पना मस्तिष्क की आँख है। हृदयोद्भूत भाव को कवि जब तक कल्पना की आँख से नहीं देखता, वह उसकी सूक्ष्मता तक नहीं पहुँचता। यहाँ पर कल्पना को मस्तिष्क की आँख बतलाने से हमारा दूसरा तात्पर्य यह भी है कि मस्तिष्क शरीर का सर्वश्रेष्ठ स्थान है और इसी में ज्ञान-कोषगह्वर भी है, जिसे चैतन्य-कोष भी कहा जा सकता है। ऐसी दशा में यह सिद्ध हो जाता है कि कल्पना चैतन्य-कोष की अभिरुचि है, और काव्य का प्राण, बस, चैतन्य-कोष का अधिष्ठाता है—अर्थात् कल्पना भी उसकी एक देशस्थचिर-संगिनी होने के नाते काव्य की अन्तरात्मा बन जाती है। वह यहाँ तक बढ़ जाती है कि कल्पना शून्य साहित्य या काव्य, काव्य ही नहीं कहा जा सकता।

यदि कल्पना का अर्थ 'अनोखी सूझ' से लिया जाय, तो उसका सम्बन्ध केवल अद्भुत रस से ही रह जाता है। शेष आठ रसों में उसका कोई समावेश नहीं हो पाता। तो काव्य में केवल अद्भुत रस ही रहना चाहिए, यही अर्थ हुआ न? लेकिन ऐसा कदापि नहीं है। कल्पना का सच्चा अर्थ है 'सौंदर्य' जो कि काव्य का मूलतत्त्व और हृदय का प्रधान गुण है। 'सौंदर्य' काव्य के नवों रसों में व्याप्त रूप से दिखाई पड़ता है। 'सौंदर्य' शब्द का काव्य में वह अर्थ व्यवहृत नहीं होता, जो साधारणतः लिया जाता है। कारण, उस अर्थ की रौद्ररस, भयानकरस तथा वीभत्सरस में अति-व्याप्ति हो जायगी। काव्य में तो इस शब्द का अर्थ किसी भी विषय या वस्तु की उन्नततम अवस्था से लिया जाता है—अर्थात् काव्य में जो भी विषय वर्णित हो, वह अपने पूर्ण उत्कर्ष और उन्नत रूप में होना चाहिए, तभी उसका सौंदर्य है। इस दृष्टि से 'सौंदर्य' की समालोचना हो चुकने पर जब हम आगे दृष्टि फेंकते हैं तो नवो रस "सौंदर्य-प्राण" दिखायी पड़ते हैं। काव्य में 'रस' ही उस अवस्था का नाम होता है, जिसमें पहुँच कर वह विषय 'सौंदर्य-प्राण' होकर पाठक की आत्मा को सौंदर्याभास देता है, और उस विषय के लिए पाठक के हृदय में स्थायी स्थान बना देता है। कल्पना का महत्व भी इसी में है कि वह विषय को चिरस्थायी रूप दे सके। यही कारण है कि कल्पना-प्रसूत बात सदा नवीन और स्थायी रहती है। विज्ञान-प्रसूत बात

कल्पना का सौष्ठव स्वभाव की रक्षा में है। स्वभाव हृदय का सच्चा स्वरूप है। सत्य कविता के सौंदर्य का आधार है।

को तथ्य समझने पर भी, एक बार जान चुकने पर भी हम पुरानी समझने लगते हैं। यथा "अग्नि उष्ण है" यह जान लेने पर उत्सुकता मन्द हो जाती है, किन्तु कल्पना के मधुर पराग से परिवेष्टित विषय में सदा सौंदर्य बना रहता है। इसी से वह सदा रहस्यमय प्रतीत होती है। तुलसी का मानस आज तक वैसा ही रुचिकर है और अनन्तकाल तक ऐसा ही रहस्यमय सौंदर्य उसमें विद्यमान रहेगा। बस, यही विज्ञान और कल्पनाप्रसूत विषयों में अन्तर है। यही कारण है कि कल्पनाजन्य साहित्य का विषय चिरन्तनकाल-पर्यन्त मनुष्य के सामने समुज्ज्वल तथा नवीन रूप में बना रहता है और इसी लिए कल्पना का काव्य में इतना ऊँचा स्थान है। कहने का अर्थ यह है कि कल्पना-हीन काव्य स्थायी और रुचिकर नहीं हो सकता।

काव्य की कोमलता का स्रोत हृदय का कौन सा भाग है यह एक अमर रहस्य है।

कवित्तत्व बड़ी ही कोमलतर वस्तु है। इसकी कोई सीमा नहीं हो सकती। अनादिकाल से बड़े-बड़े काव्यमर्मज्ञ इसी खोज के पीछे मर मिटे और अनन्त काल तक न-जाने कितने मिटते रहेंगे। किन्तु इसका अमर रहस्य कदाचित् ही उद्घाटित हो। इस कठिनाई का सबसे बड़ा कारण यह है कि यह मानव-हृदय की वह वृत्ति है, जो काल और कर्म के संयोग से चैतन्यशक्ति द्वारा उपस्थित होकर क्षण-भर में क्या से क्या हो जाती है। यदि जीवन, प्रेम तथा ईश्वर की व्यापकता का रहस्य जाना जा सकता है, तो इसका भी, अन्यथा असम्भव है। जिस प्रकार प्रातःकालीन स्निग्ध उषा-लालिमा को विलीन होते देख यह अनु

सन्धान करना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जाता है कि यह लालिमा कालिमा में विलीन हुई अथवा प्रकाश-पट में, उसी प्रकार हृदय-प्रदेश में कवित्व कहाँ से प्रकट होता है और किस प्रकार क्या रूप धारण कर लेता है, इसका पता लगाना भी कठिन ही नहीं, असम्भव है। इसीलिए कवि इस अति सूक्ष्म-व्यापार-प्रसूत कवित्व को कल्पना के अणुवीक्षण-यंत्र द्वारा संसार के समक्ष बृहद् रूप में उपस्थित करता है। कल्पना का काव्य में कवित्व के जनक हृदय से कम महत्त्व नहीं है। कवि अमरत्व का अलौकिक आनन्द दिखलाने के लिए आत्मा के कपाटों को कल्पना की कुंजी से खोलता है। कवि शेष सृष्टि से हमारा अभेद सम्बन्ध स्थापित करता है। कवि हमारे लिए बड़े-बड़े रहस्य कल्पना के आधार पर सरल करके समझा देता है।

[वित कवि का स्वभाव है तो कल्पना कविता का स्वभाव है। स्वभाव में अस्वाभाविक को स्थान नहीं।]

दृश्यमान् जगत् का प्रतिबिंब चक्षुरिन्द्रिय के सन्निकर्ष से सभी के हृदय पर पड़ता है, भाव भी सभी के हृदय में उद्भूत होते हैं; किन्तु कवि का स्वरूप कल्पना-कौशल में, जो कवि का अपना होता है, सुरक्षित रहता है। अनुभूत विषय-जन्य भावों को अपनाकर उन्हें संसार का बना देने का नाम ही साहित्य या काव्य अथवा कवित्तत्व है।

इसी कार्य का सम्पादन करनेवाली सुललित कला का नाम कल्पना है। जैसे शरीर प्राणों का एक-मात्र आधार है, वैसे ही कवित्तत्व का अन्तिम आधार कल्पना है। कल्पना का दूसरा अर्थ करना काव्य-

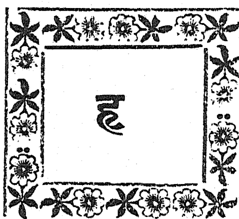
कला के महत्व को क्षीण करने के सिवा और कुछ नहीं। कवि कल्पना में ही जीवित रहता है, कवित्व और विषय में नहीं। कारण, कवित्व और विषय पर तो संसार का एकाधिपत्य होता है; किन्तु कल्पना ही एक वह वस्तु है, जिसके द्वारा कवि का स्वरूप अक्षुण्ण रहता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कल्पना के आदर्श में कवि का शुद्ध स्वरूप कवित्व-पट पर सदा सर्वदा सुस्थिर रहकर अनन्त-काल तक संसार के सामने समुज्ज्वल रूप में समुपस्थित रह सकता है। अतएव कल्पना काव्य में संजीवनी-शक्ति भर देने के कारण अत्यन्त आवश्यक वस्तु सिद्ध होती है। यदि कल्पना न हो, तो कवित्व की क्षीण ज्योति कवि-हृदयाकाश के अलक्ष्य क्षितिज-प्रदेश में चमककर ही मन्द पड़ जाय तथा साहित्य-निर्माण के भाव विनिमय वाले सिद्धान्त को पूरा करने में समर्थ न हो सके। कल्पना ही वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपने हृदय की बात को शक्ति-संपन्न बना कर, दूसरे के हृदय में प्रवेश कराकर उसके हृदय को वशीभूत करता है। यही कारण है कि कवि सृष्टिकर्त्ता, पथप्रदर्शक आदि उपाधियों से विभूषित रहता है, अन्यथा वह इनमें से एक भी उपाधि के योग्य नहीं। काव्य के सत्य, शिव और सुन्दर तीनों गुण कल्पनाप्रसूत ही हैं। अतः यह निर्विवाद है कि यदि कवित्त व कवि का स्वभाव है, तो कल्पना कवित्व का स्वभाव है। दूसरे के बिना पहले का कोई रूप ही नहीं बन सकता। इसलिए अवश्य

ही कल्पना कवित्व के लिए स्वाभाविक पोषण-पदार्थ के तुल्य कोई सत्य-देश से ध्वनित होकर संसार को रागमय बना देनेवाली अदृश्य किन्तु अनुभवज्ञातव्य वस्तु है।

२

रसोद्रेक

रसो वै सः—उपनिषद्



दय और संस्कार - समष्टि में कोई पार्थक्य नहीं। वास्तव में दोनों वस्तुएँ एक ही हैं। हृदय का स्वतंत्र अस्तित्व कुछ नहीं है। मानव-निर्माण कला-विशारद परमात्मा ने हृदय को एक ऐसी वस्तु बनाया है जिसका वैचित्र्य, अनेकों मनोवैज्ञानिकों द्वारा अनेकों प्रकार से समीक्षा करने पर भी समझ में नहीं आया।

मुग्ध होना हृदय का स्वभाव है, और वितर्क करना मस्तिष्क का।

काव्य-कला का इसी हृदयेन्द्रि[1] से सम्बन्ध है। संसार की जितनी भी ललित-कलाएँ हैं उनकी अपेक्षा, काव्य-कला का सम्बन्ध हृदय से कहीं अधिक है।

---

१ हृदयेन्द्रि यहाँ चित्त, मन या भावना कोष का पर्यायवाची शब्द है। इन्द्रिय विशेष का नहीं।

मस्तिष्क और-हृदय का पारस्परिक प्रतिबिम्ब ही कल्पना का कोमल स्वरूप या रस-स्रोत है

हृदय भावमय-कोष है, जबकि मस्तिष्क विवेक-मय। हृदय सौंदर्योपासक है और मस्तिष्क तथ्या-तथ्य का निर्णायक। हृदय काव्य-मय है एवं मस्तिष्क विज्ञानमय। अस्तु हृदय में मुग्ध होने की स्वभाव-सिद्ध शक्ति मस्तिष्क की अपेक्षा कई गुणा अधिक है। वैसे तो ज्ञानकोष के बिना आनन्दकोष का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता है; परन्तु काव्य-क्षेत्र में हृदय का आसन ज्ञानकोष से बहुत ऊँचा उठ जाता है। हृदय की वासना के सामने मस्तिष्क के विवेक-तन्तुओं को लड़खड़ा कर ही रह जाना पड़ता है।

हमने हृदय को संस्कार-समष्टि बतलाया है। हृदय के निर्माण-विकास के सम्बन्ध में दो मत हो सकते हैं—(१) उसका निर्माण गर्भ में ही हो जाता है। (२) गर्भ में केवल उसका ढाँचा मात्र बनकर तैयार होता है, एवं उसका विकास फिर जैसी जैसी परिस्थितियों में वह पड़ता है वैसे ही वैसे संस्कारानुकूल होता रहता है।

प्रथम मत के अनुसार हृदय का निर्माण एक ही बार हो चुकना सिद्ध होता है। और दूसरे मत के अनुसार हृदय का विकास-क्रम जीवन की संध्या होने तक बराबर चलता रहना बतलाता है।

हमारे विचार से हृदय का निर्माण इन दोनों मतों का संमिश्रण है। हृदय का गर्भ-निर्मित स्वरूप और परिस्थितिगत विकास-भाव वास्तव में पृथक्-पृथक्

नहीं है। अस्तु, दोनों ही मतों के अनुसार हृदय की संस्कारमयता पुष्ट होती है।

हृदय-पट पर संस्कारों का अस्फुट जाल—जो शरीर-निर्माण के साथ ही बन चुकता है—वाह्य-जगत् के नेत्रेन्द्रिय द्वारा पड़े हुए प्रतिबिम्ब के संसर्ग से उसी प्रकार विकास पाने लगता हैं जैसे (salt-wash) मसाले के संसर्ग से प्लेट पर लिया हुआ चित्र। (जब तक यह प्लेट धुल नहीं जाता चित्र का संस्कार मात्र इसके गर्भ में निहित रहता है, चित्र का स्फुट आकार पीछे ही नज़र पड़ता है)।

मनोवृत्तियों के जितने भेद हो सकते हैं उन सबका समावेश नव रसों में हो जाता है। नव रस, काव्याचार्यों द्वारा की गयी हृदय या मन की विकृति और उसकी गति-विधि की समीक्षा है।

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने मानव-स्वभाव का पूर्ण पर्यालोचना करके उसकी गति-विधि की समीक्षा करते हुए विश्लेषणात्मक दृष्टि से उसके नव भेद कर दिये हैं। मनुष्य का हृदय नव-प्रकारेण विकास पाता है। भावना-वैचित्र्य से मनोवृत्ति के जितने भेद हो सकते हैं उन सबका समावेश इन नव भेदों में हो जाता है।

चित्तवृत्ति का दूसरा नाम है भाव। निर्विकार हृदय की प्रथम विक्रिया को भाव कहते हैं—"निर्विकारात्मके चित्ते भावः * प्रथमविक्रिया" परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि हृदय तो कभा निर्विकार रहता ही नहीं! सत्य है, किन्तु प्रत्येक क्षण में होनेवाला हृदय-विकार अपने भविष्यत् में आनेवाले विचार-विकार के लिये सदैव निर्विकार रहता है।

---

* निर्विकार जो चित्त में उपजत प्रथम विकार।
आलम्बन उद्दीप तैं भाव ताहि निर्धार॥

भाव या चित्तवृत्ति का विकास किसी आश्रय विशेष को पाकर ही हो सकता है। यह आश्रय आलम्बन या उद्दीपन अथवा दोनों ही रूपों में दृश्य-विषयक, स्मृति-विषयक अथवा वृत्त-विषयक बनकर संस्कारमय हृदय-कोष पर चक्षुरेन्द्रिय या कर्णेन्द्रिय के सन्निकर्ष से जब अपना प्रभाव डालता है तब हृदय में विकार उत्पन्न होता है। और इस प्रकार जो भावनाएँ हृदय में संस्कार रूप से सन्निविष्ट रहती हैं परिस्थिति की रश्मि से पिघल-पिघल कर रस का रूप धारण कर लेती हैं।

प्रत्येक ही भाव रस रूप में परिणित हो जाय सो भी बात नहीं है। नाट्य-शास्त्र के प्रणेता और रस विज्ञान के पारंगत भरत मुनि ने प्रत्येक भाव को रस दशा में पहुँचने के लिये चित्तवृत्ति के क्रम विकास † का परिस्थिति के अनुकूल रहना अथवा परिस्थिति का क्रम-विकास के अनुकूल रहना आवश्यक माना है। यहाँ अनुकूल शब्द का आशय है संस्कारानुकूल विभावों द्वारा भावोत्पत्ति होकर अनुभाव एवं संचारी भावों की सहायता से चित्तवृत्ति को स्थायी करने के उचित साधन का उपस्थित होना ही संस्कारानुकूल शब्द की व्याख्या है।

हृदय का स्वभाव, दृश्य, स्मृति एवं वृत्ति‡ किसी भी प्रकार का आलम्बन पाकर विकृत हो जाना है। परन्तु जबतक यह आलम्बन हृदयास्थित संस्कारों

† "विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः"—भरतमुनि
‡ वृत्तमूलक आलम्बन शब्द ही हो सकता है।

के अनुकूल न होंगे भाव अपना क्षणिक हास दिखाकर विलीन हो जायगा। और यही हाल संचारी (व्यभिचारी) भावों का भी होगा। वे भी संस्कार के प्रतिकूल अपना कार्य करने में सर्वथा असमर्थ ठहरेंगे। ऐसी अवस्था में रस दशा बहुत दूर जा पड़ती है।

बहुधा देखा जाता है कि एक ही दृश्य आलम्बन-स्वरूप में दो व्यक्तियों के सामने आता है और दोनों के हृदय में भिन्न-भिन्न प्रकार की भावनाएँ उठती हैं। इसका कारण उस दृश्य-विशेष की संस्कारानुकूलता है। क्योंकि जिस भावना का वह आलम्बन हो सकता है उस भावना के अनुकूल संस्कार जिस हृदय में अधिक प्रबल होंगे उस हृदय में इसे देखकर जो भावना प्रादुर्भूत होगी वह उस दूसरे हृदय में कभी नहीं हो सकती जिसमें इस (उपस्थित) आलम्बन से सम्बन्ध रखनेवाले 'रस' के अङ्कुरों का संस्कार नहीं है। क्योंकि हृदय-पट पर बने हुए संस्कार-जाल पर दृश्य प्रतिबिम्ब-ज्योति अपने अनुकूल संस्कार को ही जागरित करती है। दूसरे संस्कार कभी उसके संसर्ग से उत्तेजित नहीं हो पाते।

अस्तु, नव-चित्तवृत्तियाँ ही अनुकूल समय-स्थिति पाकर रस (relish) रूप धारण कर लेती हैं। इन्हीं चित्तवृत्तियों के सुविकसित स्वरूप 'नव-रस' कहलाते हैं।

यहाँ तक के विवेचन से पता चल चुकता है कि 'रस' हृदय का संस्कारमयता का मोहताज है। और भाव विभावों का। विभाव के, काव्याचार्यों ने आलंबन

और उद्दीपन नाम से दो भेद कर दिये हैं। यही दोनों विभाव वास्तव में रस के कारण हैं।

हम पहिले बतला चुके हैं कि हृदय की प्रथम विक्रिया, जिसे भाव कहते हैं, दृश्य-विषयक, स्मृति-विषयक या वृत्त-विषयक वाह्य-विश्व के तीन प्रकारों में से किसी एक या एक से अधिक पर अवलंबित है। और इन्हीं प्रकारों को काव्याचार्यों ने विभाव नाम से सूचित किया है। अत: निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि भावोत्पत्ति के कारण को ही विभाव कहते हैं।

विभाव आलम्बन और उद्दीपन प्रकार से दो तरह रस के उत्पादक या उत्कर्ष बनते हैं।

विषय से वृत्ति का संसर्ग होकर विषयाकार-वृत्ति जहाँ हो, वहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अथवा विषय चेतन या वृत्ति चेतन से अभेद होना ही प्रत्यक्ष ज्ञान है। यह अभेद जिन परिस्थितियों में होता है वे दो प्रकार की होती हैं—एक तो वे जिनके बिना विभाव उत्पन्न होते ही नहीं। जैसे नायिका नायक के प्रेम का आधार है। बिना नायिका नायक के हृदय में प्रेम-भाव उठ ही नहीं सकता। और दूसरी वे जो प्रथम प्रकार की परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न किये गये भावों को उत्तेजना देने का कार्य करें। जैसे—प्रेमिका का चित्र, एकान्तस्थान में प्रेमालाप की स्मृति, अथवा प्रेमिका की कोई प्रिय वस्तु इत्यादि। इन दोनों प्रकार की परिस्थितियों का मिलित नाम 'विभाव'। प्रथम प्रकार की परिस्थिति को 'आलम्बन' और दूसरे प्रकार की परिस्थिति को 'उद्दीपन' कहते हैं क्योंकि प्रथम में भाव को आधार मिलता है एवं दूसरा उसे उद्दीप्त करके और भी प्रबल कर देती है।

दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जो विशेषरूप से रस को भावित करे वह विभाव कहलाते हैं—"विशेषेण भावयन्त्युत्पादयन्ति ये रसास्ते विभावाः"।

कविता का आधार हृदय है। और हृदय का गुण आर्द्रत्व है। आर्द्रत्व-हीन हृदय हृदय नहीं कहलाता।

* कविता हृदय की महीन झनकार है। इसी कारण इसका सम्बन्ध चित्तवृत्तियों और भावों से अधिक है। तर्क के कर्कश सिद्धान्तों से इस कथन का कोई सम्बन्ध नहीं। रस हृदय का कौन सी सुकुमार और परिवर्तनशील क्रिया का फल है—यही हमारे लेख का प्रतिपाद्य विषय है।

यहाँ पर एक प्रश्न होता है कि जब हृदय संस्कार समष्टि है तब सभी के संस्कार काव्यमय हों ऐसा क्योंकर हो सकता है? सच है परन्तु, काव्य की रसमयता तो हृदय की प्रतिकृति हैं। हृदय तो एक ऐसी वस्तु है जिसके बिना मनुष्यत्व का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता। बल्कि क्रूर व्यक्तियों को बहुधा कह दिया जाता है—बड़ा हृदय-हीन व्यक्ति है। यद्यपि उस क्रूर व्यक्ति के पास भी हृदय अवश्य है परन्तु हृदय का सच्चा गुण—आर्द्रत्व जबतक उसके हृदय में न हो उसके हृदय का कोई मूल्य नहीं। अस्तु, वाह्यजगत् का अन्तर्विश्व से सम्बन्ध होने पर जो मूक किन्तु मधुर प्रतिध्वनि होती है वही रस का अनुभवगम्य स्वरूप है। अस्तु, हृदय के

---

* कविता का अर्थ पद्यात्मक रचना ही नहीं है। बल्कि कविता एक वह गुण है जो गद्य-पद्य सभी प्रकार की रचनाओं में रह सकता है। यहाँ कविता का अर्थ है काव्यमयता अथवा आनन्दमयता।

गुण आर्द्रत्व से संयुक्त हृदय का और काव्यमयता का अभिन्न सम्बन्ध स्वभावसिद्ध हो जाता है।

भाव विस्फोटन रस का मूल है। भाव शरीर की चेष्टा स्वरूप में परिणिति ही अनुभाव है।

प्रकृत में रस के कारण भाव ही हैं। और भाव मन के विकार हैं। जैसा कि अमरकोषकार ने कहा है—"विकारो मानसो भावः" यही भाव हृदय से वाणी का सहारा पाकर या दृश्य काव्य में नट का आश्रय पाकर अंग-रचना और अन्तरानुभिति-प्रचेष्टन-विधि द्वारा काव्यार्थों की भावना कराते हैं— "वागंगसत्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः"

स्थायी भाव हृदय की वह अवस्था है जो रसास्वादन के बहुत ही निकट की कही जा सकती है।

भाव का जीवन बहुत ही थोड़ा होता है। इसी लिये विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की सहायता उसे रस दशा तक पहुँचा देने के लिये अनिवार्य होती है। इस प्रकार भाव जब संस्कारानुकूल परिस्थितियों को पाकर संवृद्ध और परिपुष्ट हो जाता है, तब वह स्थास्नु मनोविकार अथवा स्थायी भाव कहलाता है।

यह स्थायीभाव दृढ़ संस्कार या वासना के रूप में हृदय में दबे पड़े रहते हैं और जब कभी अनुकूल अवसर पाते हैं उखड़ पड़ते हैं। परन्तु इनके संस्कार दृढ़ होते हैं इसीलिये यह शीघ्र नष्ट न होकर रस अवस्था पर्यंत उपस्थित रह जाते हैं। इनकी संख्या भी नव रसों के अनुसार अलग अलग रस का एक-एक स्थायी भाव होने के कारण नव ही है। किन्तु भाव को स्थायीभाव की दशा तक पहुँचाने के लिये यथेष्ट उद्बोधक मिलते रहने की परमावश्यकता होती है। नाटक या दृश्य काव्य में, आंगिक (कायिक) वाचिक,

आहार्य और सात्विक चतुर्विध अभिनय प्रधानतः उद्बोधक का काम करते हैं। इसीलिये प्रायः दृश्य काव्य में बहुत शीघ्र और सहज में ही रसोद्रेक हो जाता है। दृश्य काव्य में भाव का आलम्बन नट, जिसको देखकर हमारे मन में भावना का संचार होता है, उक्त चतुर्विध अनुभावों द्वारा अपने हृद्गत भाव को हमारे हृदयस्थित भाव से टकरा कर जागरित कर देता है। परन्तु अन्य काव्यों में यही कार्य शब्द-शक्तिमात्र करती है। यही कारण है कि नाटक में अन्य काव्यों की अपेक्षा रस-संचार शीघ्र और स्थायु होता है।

भरत मुनि ने स्थायी भाव की प्रधानता का उपपादन करते हुए बतलाया है—

"यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवंहि सर्व भावानां भावः स्थायी महानिह ॥"

अर्थात् जैसे मनुष्यों में राजा और शिष्यों में गुरु है, वैसे ही सब भावों में स्थायी भाव प्रधान होता है। और यही मत लगभग प्रदीपकार का भी है—

"विरुद्धा अविरुद्धवायं तिरोधातुमक्षमाः।
आनन्दांकुर कन्दोसौ भावः स्थायि पदास्पदम् ॥"

अर्थात् जिस भाव को विरुद्ध अथवा अविरुद्ध भाव तिरोधान न कर सकें अर्थात् जो दूसरे भावों में निमग्न और तिरोहित न हो सके वही आनन्दांकुर उद्भूत करनेवाला भाव स्थायी भाव होता है।

हृदय का धर्म द्रवित हो उठना ही है। जब

मानसिक' कायिक और आहार्य तीन प्रकार की भाव सूचनाएँ हीं रसदशा का अनुभव कराने के कारण अनुभाव कहलाती हैं।

आलम्बन-उद्दीपन विभावों के कारण चित्तवृत्ति में विकार उत्पन्न हो जाता है तब हृदय अपनी स्वाभाविक अवस्था को छोड़कर एक विशेष दशा में हो जाता है। यहीं पर हृदय की वासना की तीव्रता का पता चलता है।

इस दशा पर पहुँचने पर सूक्ष्म जगत् का व्यापार स्थूल शरीर पर प्रकट हो जाता है। और इस प्रकार उद्‌बुद्ध चित्तवृत्ति का अनुभव प्रत्यक्ष रूप में होने लग जाता है। अस्तु, सूक्ष्मशरीर को स्थूलशरीर से मिला देनेवाली, अथवा मनोभावनाओं को चेष्टा विशेष द्वारा प्रकट कर देनेवाली विशिष्ट क्रिया का नाम अनुभाव है। अथवा यों समझ लीजिये कि भावनाओं को अनुभावित करानेवाले, उनके कार्यस्वरूप स्नेहावलोकन, भ्रूविक्षेप आदि विभिन्न रसों में अपने अपने स्वभाव के अनुकूल नायक नायिका के व्यापार काव्य और नाटक में अनुभाव नाम से प्रसिद्ध होते हैं।

अनुभाव-क्रिया के स्वभाव-विश्लेषणात्मक चार भेद होते हैं—भ्रूविक्षेप, स्नेहावलोकनादि कायिक, प्रमोद, शोक, दैन्य, उत्साहादि मानसिक, एवं वेषभूषा सम्बन्धी रचना आहार्य। अब रह जाता है सात्विक।

हृदय का संस्कार जब भाव की परिपक्वता का रूप धारण कर लेता है तब उसका प्रत्यक्षीकरण सात्विक अनुभाव द्वारा होता है। सात्विक अनुभाव इसका प्रत्यक्षीकरण आठ प्रकार से कराता है—

संचारी भाव हृदय के वे अस्थायी विकार हैं, जो आलम्बन के द्वारा उत्पन्न हुए चित्त विकार को रसावस्था तक पहुँचाने में साधक रूप से कभी प्रकट और कभी विलुप्त होते रहते हैं।

स्तम्भ*, कम्प, स्वरभङ्ग, स्वेद, रोमांच, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, और प्रलय†। यह भाव सत्व से निष्पन्न होने के कारण ही सात्विक कहलाते हैं।

हृदय की एकान्त वासना जब अपना विषय पाकर भटक उठती है तो उसे कई आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। येनकेन उपायेन हृदय अपनी वासना की तृप्ति चाहता है। इसी विषय की प्राप्ति का अविरल प्रयत्न जो हृदय को करना पड़ता है, काव्य में संचारी भाव कहलाता है। क्योंकि हृदय‡ को इस अवस्था में कई प्रकार से संचरण करना पड़ता है।

ऐसे अवसर पर विभिन्न रसों के अनुकूल, चित्त-वृत्ति को विभिन्न प्रकार से विकृत हो जाना पड़ता है। और वे प्रकार संचारीभाव के कहलाते हैं। संचारी शब्द की व्युत्पत्ति है—'संचरतीति संचारी' अर्थात् साथ चलनेवाला भाव संचारीभाव× होता है। और उसके ३३ प्रकार होते हैं—निर्वेद, आवेग, दैन्य, मद, श्रम, जड़ता, उग्रता, मोह, विवोध, स्वप्न, अपस्मार, गर्व, मरण, आलस्य, अमर्ष, निद्रा, अव-हित्था, औत्सुक्य, उन्माद, शङ्का, स्मृति, मति, व्याधि,

* अङ्गों की निष्क्रियता को स्तम्भ कहते हैं।

और

† निश्चेतना को प्रलय।

‡ यहाँ हृदय का भाव है चित्तवृत्ति।

× कभी-कभी संचारी भाव 'निर्वेद' आदि स्थायी भाव के सहायक रूप नहीं, स्वतंत्र रूप से प्रधान होकर आते हैं। तब इनकी प्रधानता भावरूप से होने के कारण 'भाव-ध्वनि' कहलाती है।

त्रास, लज्जा, हर्ष, असूया, विषाद, धृति, चपलता, ग्लानि, चिन्ता और वितर्क।

हृदय का संस्कार-समष्टि और परिस्थितियों का सूक्ष्म विश्लेषण ही इस उपर्युक्त संख्या का जनक है। जिस प्रकार सांगीत-शास्त्रियों ने स्वर-लहरी के प्रकम्पन का श्रुति और मूर्च्छन गत भेद किया है वैसे ही हृदय की भाव दशा से रसावस्था पर्यन्त जो गति-विधि रहती है उसका काव्य-शास्त्रियों ने सूक्ष्म-समीक्षण करके संचारी-संख्या नियत की है।

भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव और स्थायी भाव का सफल एकीकरण ही 'रस' कहलाता है। रस अनुभूति का विषय है। दृश्य - सिद्ध वस्तु नहीं। हृदय का सहसा द्रवित हो उठना ही रसोद्रेक है।

यहाँ तक विभावयुग्म*, अनुभाव, संचारी और स्थायी भावों का विवेचन हो चुका है। परन्तु यह याद रहे इन छः प्रकार के भावों का पृथक्-पृथक दशा में कोई मूल्य नहीं रह जाता है। रस, जिसके आस्वादन से हमें परमानन्द प्राप्त होता है—वह यह सब नहीं—वह है पूर्वोक्त संस्कार जन्य चित्तवृत्ति का विकास। और इसी विकास की विभिन्न परिस्थितियों का सीमाविभाजक है भाव। अस्तु, भाव, विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव और संचारी भाव से पुष्ट हुई जो अलक्ष्य किन्तु अनुभव-सिद्ध वस्तु है, वही 'रस' है। परन्तु इन सब का उद्भव, संमिश्रण और प्रत्यक्षीकरण कब और किस प्रकार हो जाता है इसकी क्रमिक-चपलता का कोई पता नहीं चलता कि—रस—जो इस प्रक्रिया का फल है, हृदय में लहरें मारने लगता है।

रस का आश्रय यदि कवि का हृदय हो सकता

रस नव होते हैं—श्रृंगार, वीर, करुणा, अद्भुत, हास्य, भयानक, वीभत्स, रौद्र और शान्त।

* आलम्बन और उद्दीपन।

अब प्रश्न उठता है कि काव्याचार्यों ने 'काव्य में इस व्यञ्जना' से क्या तात्पर्य लिया है। कविता या काव्य जिसे हम कहते हैं वह हृदय का धर्म और मन का एकान्त किन्तु सरस व्यापार ! हृदय-कोष के अलक्ष्यस्थल में संस्कार रूप से जो चित्तवृत्तियाँ संभृत होती हैं, वे ही बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् के अन्तर द्वंद्व के फलस्वरूप कवि द्वारा भाषा, शैली, अलङ्कार और कल्पना के सहारे हृदय की प्रतिकृति के रूप में पाठकों के समक्ष श्रव्य काव्य के रूप में और द्रष्टाओं के समक्ष दृश्य काव्य के रूप में उपस्थित होती हैं।

अब विचारणीय यह है कि रस कवि के हृदय के आश्रित होता है या पाठक और द्रष्टा के हृदय में ?

दृश्य-काव्य में कवि का व्यापार–अधिकतर नहीं तो कतिपय अंशों में ही–नट करता है। नट के द्वारा ही कवि के भाव उसके अभिनय-पटुत्व के सहारे द्रष्टाओं पर विदित होते हैं। तब यह एक और भी अड़चन पैदा हो जाती है कि क्या रस नट के हृदय का भी विषय बनता है ?

क्योंकि अदृश्य-काव्य (श्रव्य काव्य) में तो रस का आधार रूप कवि-हृदय काव्य-ग्रन्थ के रूप में उपस्थित होता है। परन्तु दृश्य-काव्य में तो कवि का चैतन्य हृदय नट के चैतन्य हृदय से टक्कर खाकर कविता का 'हृदय से हृदय मिला देने का' जो कार्य है उसे सम्पादन करने लगता है।

एक कुशल नट कवि के भावों को अपने हृदय की विशेषता से द्रष्टाओं पर इस प्रकार प्रकट करता

है तो नट का हृदय भी इससे सर्वथा वर्जित नहीं रह सकता। क्योंकि काव्य का अन्तिम उद्देश्य है दो हृदयों का सम्मेलन करना। नट हृदय अपना कविकृत काव्य के स्वरूप में अभिनय के द्वारा मिलाकर काव्य की जीवनी शक्ति की स्थिति का काल कुछ समय के लिये बढ़ा देता है। यदि नट का हृदय कविकृत रचना में योग नहीं दे तो दृश्य काव्य की शीघ्र रसोद्रेक करने की शक्ति शिथिल पड़ जाय।

है कि रंगभूमि स्तब्ध, रोमांचित और करुणा-प्लावित हो जाती है। ऐसा क्यों ? अदृश्य-काव्य का प्रभाव इतना क्यों नहीं पड़ता ? दृश्य-काव्य का प्रभाव मूर्ख पर भी वैसा ही क्यों पड़ता है जैसा एक पंडित पर ? यह साम्य-भावना की लहर रङ्गमञ्च में कहाँ से उमड़ पड़ती है ? आदि प्रश्नों का उत्तर 'नट में रस नहीं रहता' इस कथन के आधार पर देते हैं तब तो श्रव्य-काव्य के क्षेत्र में कवि को भी इसी नट कोटि में आ जाना पड़ेगा। और यदि हृदय की रागात्मिका-वृत्ति की शक्ति का अनुभव करके विचार करते हैं तो नट में भी रस मानना पड़ेगा।

भाव (Emotions or Sentiments) जब 'रस' रूप में आते हैं तब उनका अनुभव कायिक, मानसिक, आहार्य और सात्विक अनुभावों द्वारा ही तो होता है। अब ज़रा सोचें, किसी कवि का हृदय समझे बिना भला आप उसके भाव को अनुभावों द्वारा जीवित रूप में व्यक्त कर सकते हैं ? असंभव है ऐसा करना। अच्छा, जब आप कवि का हृदय समझ लेते हैं तब अवश्य आपका हृदय उछल पड़ता है। बस यह उछल पड़ना ही नट में अभिनय-पाटव का सूत्रपात करता है । अतः मेरे निकट तो जिस प्रकार कवि बाह्यजगत् और अन्तर्जगत् के संमिश्रण को हृदय वृत्तियों के रँग से रँगकर काव्य का स्वरूप देता है उसी प्रकार नट, कवि-निर्मित अन्तर-बहिर्जगत् के मिश्रण को अपने अन्तर्जगत् से मिलाकर

अभिनय का स्वरूप देता है। यदि ऐसा न हो तो अभिनय निर्जीव हो जावे, उसमें सरसता ढूँढ़ी न मिले।

यह एक अनुभूत बात है कि जब तक हमारे हृदय में भाव जागरित न होंगे, हमें किसी भी काव्य या नाटक में रंचक भी आनन्द न मिलेगा। यह एक साधारण सी बात है कि जब तक नट रस का अनुभव न कर सकेगा उसके भाव कैसे प्रवृद्ध होंगे? और जब उसके भाव प्रवृद्ध नहीं होंगे तब वह चतुर्विध अनुभावों का जीवित उपयोग किये बिना कवि के भावों को द्रष्टामण्डली के भावों तक कैसे पहुँचा सकेगा? इन प्रश्नों का उत्तर जो कुछ हो सकता है वही 'रस का आधार क्या है' इस प्रश्न को हल कर देने का साधन है।

इतने विवेचन के पश्चात् उसी सिद्धान्त पर फिर पहुँचते हैं कि 'हृदय संस्कार-समष्टि है।' पाठक या द्रष्टा के जैसे संस्कार होंगे उनके अनुकूल काव्य या नाटक ही उसके भावों को जागरित कर सकेंगे। संस्कार-विरुद्ध काव्य या दृश्य किसी भी पाठक या द्रष्टा पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता।

परन्तु एक बात अवश्य है। मानव संसार की जीवन सम्बन्धिनी कुछ घटनाएँ आपस में बहुत कुछ साम्य रखती हैं; और इसका कारण है मानव-प्रकृति का सभी जगह सभी समय एक ही प्रकार से पोषण पाना। बस, जहाँ तक काव्य या नाटक इस सीमा के भीतर रहता है, जनसाधारण की

चित्तवृत्ति के सन्निकट रहने के कारण समान रूप से रससंचार करता है। और जहाँ इस सीमा के बाहर हुआ कि उसकी रसव्यञ्जिका शक्ति ढीली पड़ जाती है।

इसी सीमा का दूसरा नाम वर्तमानयुग के आचार्यों ने रक्खा है 'स्वभाव'। कहने का आशय है कि स्वाभाविक सिद्धान्तों का अनुसरण करके लिखा हुआ काव्य अथवा नाटक सर्वसाधारण के हित की बात होती है। क्योंकि शोक, आनन्द, प्रेम, उत्साह आदि भावनाएँ लगभग एक से ही कारणों का आश्रय पाकर जागा करती हैं। अस्तु—

अब हम रस दशा पर दो शब्द कहकर इस विषय को समाप्त करते हैं।

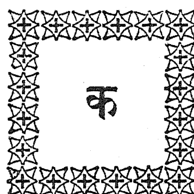
रसाभि व्यक्ति यद्यपि हृदय का विषय है। परन्तु सभी हृदय इसके आस्वादन की योग्यता रखते ही ऐसा नहीं सहृदय हृदय ही 'रस' का आश्रय हो सकता है।

रस की अभिव्यक्ति सहृदय के ही हृदय में हुआ करती है। अपटु, हृदयहीन (शुष्क) मनुष्य का रसवस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है। रसावस्थिति के पश्चात् या उसके होने के साथ - साथ सहृदय के रोम-रोम में उसका परिस्फुरण होने लगता है। रसास्वादक इस समय अपने को इस लोक से परे किसी अलौकिक स्थल पर बैठा पाता है, लोकोत्तर आनन्द का अनुभव क्षणभर के लिये उसे आत्मविस्मृति करा देता है। परन्तु यह सब कुछ होता क्षणिक ही है। क्योंकि रस के उद्रेक के कारण विभावादि—जो लौकिक होते हैं—जहाँ आनन्द का आरंभ हुआ नहीं कि अलग से हो जाते हैं। आत्मा एक रस-क्षेत्र की महमान बन जाती है। बस, यही रसदशा, यही रस-

मयता और यही ब्रह्मानन्द-सहोदर अलौकिक विश्व का आनन्द-कोष-झरित सौरभ और मनुष्यत्व का अन्तिम लक्ष्य है।



साहित्य और उसका आधार



ला मानव-हृदय का विकास, कलाकार की अन्तरात्मा का सौंदर्य और मस्तिष्क का उपयोगी विकार है।

आनंद में पार्थक्य नष्ट हो जाता है, इसीलिए समस्त संसार के साथ हमारा अभिन्न संबंध स्थापित हो जाता है। आनंद में मनुष्य विश्व को आत्मरूप समझकर, अहङ्कार से दूर होकर क्षुद्रता और दौर्बल्य का कोई विचार न करके निःसंकोच अपने को आनंदलहरियों पर छोड़ देता है।

आनंद एकीकरण का महामंत्र तथा साहित्य की अंतिम सीमा है। जब धीरे-धीरे साहित्य द्वारा आनंद आत्मा की भीतरी तहों में मिल जाता है तो मनुष्य अपने-आपको सत्य की सुविशाल परिधि में खड़ा पाता है। किंतु प्रश्न होता है कि वह आनंद—जिसमें मनुष्य को महापुरुष बना देने की, संसार को स्वर्ग और आत्मा को महात्मा बना देने की शक्ति है—कैसे प्राप्त होता है ?

यह एक निर्विवाद बात है कि आनंद मोक्ष का

लक्षण और मोक्ष मनुष्य की उन्नति तथा अत्यंत विकास की अवस्था है। मोक्ष प्राप्त करने का अर्थ परमानंद में लय हो जाना या आत्मा का परमात्मा-स्वरूप हो जाना ही है। संसार में मनुष्य के विकास के दो ही साधन हैं—एक तो कर्म और दूसरा साहित्य। पहिले का आधार व्यवहार है, जब कि दूसरे का आधार है भाव-रचना। यह दोनों साधन एक दूसरे के साथ-साथ चलते हैं। और, इन दोनों के बीच में जो समीर बहता है उसमें इन दोनों ही की सुगंध रहती है तथा वह कहलाता है इतिहास। मनुष्य का इतिहास क्या है—भाव और कर्म की कहानी ही तो।

कर्मक्षेत्र में मनुष्य अपने को देखता है, दिखाता नहीं; और भाव-क्षेत्र में वह अपने को दूसरों को दिखलाता और देखता भी है। किंतु स्वयं अपने नहीं, दूसरे के हृदय के आदर्श में देखता है। बस, दोनों क्षेत्रों के दायरों में इतना ही अंतर है।

आनन्द साहित्य की अंतिम सीमा है। मनुष्य का इतिहास भाव और कर्म की कहानी है।

जो व्यक्ति अपने को जितना ही अधिक व्यापक रूप में देख सकता है, वही महापुरुष और महात्मा कहलाता है। अस्तु, 'भाव-विश्व' का आनन्द और संसार से अधिक निकट संबंध स्थापित होता है। भावों को समष्टि संसार है, और व्यष्टि प्रलय। तब कर्मक्षेत्र तो संसार और प्रलय की सीमा के बीच का स्थानविशेष-मात्र रह जाता है।

कर्मक्षेत्र की सीमा सीमित है—तदनुसार उसका आनन्द सीमित है। किन्तु भावक्षेत्र असीम और

व्यापक है, अतएव उसका आनन्द भी अलौकिक और निःसीम है। उदाहरणार्थ—जब आपके यहाँ कोई उत्सव होता है तब एक ओर तो आप उत्सव की तैयारी में व्यस्त, कर्मक्षेत्र में खड़े होते हैं और दूसरी ओर निमंत्रण द्वारा अपने हृदय के आनंद को व्याप्त और सत्य-स्वरूप देकर अन्य हृदयों में अपने हृदय को मिला देने की उत्कट चेष्टा करते हैं। इसका क्या कारण है ? यही कि मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपने को जितना अधिक प्रकाशित कर सके, करे। बस, इसी भावना का मानव-हृदय के किसी कोने में स्राव होता है और उसे हम 'भाव' कहते हैं। भाव की परिभाषा साहित्य-शास्त्रियों ने यह की है—

निर्विकार जो चित्त में, उपजत प्रथम विकार।
आलम्बन उद्दीप तें, भाव ताहि निरधार॥

अर्थात् दृश्यमान् संसार के विभिन्न दृश्यों की जो छाप चक्षुरिन्द्रिय के सन्निकर्ष से हृदय-पट पर पड़ती है, वह एक प्रकार की ऐसी अलक्ष्य चेष्टा पैदा करती है, जिसमें सांसारिक दृश्यों का सार आत्मा रूप से समुपस्थित रहता है। फिर यही चेष्टा 'भाव' रूप से साहित्य का आधार बन जाती है।

मनुष्य के जीवन में एक घड़ी आती है, जब वह अपने हृदय के वेग को भावावेग में मिलाकर सौंदर्य सृष्टि का साधन बना देता है; हृदय-स्थित उत्साह को मुधरिमा के प्रकाश में प्रकट करने को विवश हो उठता है। यही घड़ी वह घड़ी होती है जब भाव की शिलाभित्ति पर साहित्य का भव्य भवन निर्मित हो

जाता है; हृदय का अनायास-प्रसूत आवेग बाह्य जगत् के साथ एक हो जाता है ! यों कहिए कि संसार का सूक्ष्म रूप साहित्यकार के हृदय में जाकर फिर अपने विराट् रूप को प्राप्त कर लेता है। साहित्य - निर्माण की गति में यह चेष्टा लगातार होती रहती है। 'भाव' आलम्बन और उद्दीपन से उत्पन्न होता है, फिर इन्हीं दोनों से टकराती हुई काव्य की आत्मा 'रस' में परिणत होकर सत्यानंद के लोल लहरिजाल पर उतराने लगता है। तभी उसे साहित्य का रूप प्राप्त होता है।

भावना-बाढ़ के साथ हृदय का जो आन्तरिक स्वरूप उजाले में आ जाता है, वही इसका सत्य - सौंदर्य है।

मानव-हृदय में भाव के साथ ही साथ एक बाढ़-सी आती है। वह इस समय अपना आन्तरिक स्वरूप उजाले में रख देने को व्याकुल हो उठता है। वह अपने सत्यमय भाग को सहसा बाहर फेंक देने को तैयार हो जाता है। ऐसा क्यों ? इसीलिए कि वह अपने भव्य रूप को संसार के सामने बृहत् रूप में देखना चाहता है। उसकी यही चाह साहित्य का आधार बनकर संसार के लिए पथ-निर्देश करती है।

इस उक्त कार्य का सम्पादन करने के लिए हृदय से भाव-रूप में विकसित मनोवृत्ति प्रथम संसार का स्थूल स्वरूप बनती है, और फिर उस स्थूल स्वरूप को अपना बनाकर, साहित्य का रूप देकर उसी को लौटा देती है। इसीलिए साहित्य को संसार के मस्तिष्क का इतिहास माना है।

कभी-कभी हमारी चिरप्रवीण बुद्धि, कार्य-कारण-क्षेत्र में एक निर्णायक की तरह खड़ी होकर संसार की विभिन्न चेष्टाओं को देख-देख हँसी उड़ाती है, तब

हृदय उछल पड़ता है और सानुराग कह देता है कि यही तो वह सब है, जिसके कारण मैं, मैं हूँ और तू, तू है। यदि यह सब कुछ न हो तो न तेरे निर्णय का कोई मूल्य हो, न मेरे रागमय होने का। सच है, हृदय जानता है, वही विशाल रूप में बाहर है और वही सूक्ष्मस्वरूप में भीतर बाहर का सब सामान उसके लिए है, और भीतर की सुस्निग्ध एवं सुकोमल चेष्टा बाहर के लिए। हृदय का यही बाहर-भीतर का आदान-प्रदान साहित्य का आधार बनकर संसार को रसमय बना देता है। आज भी वाल्मीकि और व्यास के हृदय के रंग में रँगा हुआ त्रेता और द्वापर युग का संसार रामायण-महाभारत के रूप में विश्व को हृदय सुधा का पान करा रहा है। छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े व्यक्ति के पीछे आज भी महाकवि वाल्मीकि के भाव से प्रेरित राम और लक्ष्मण खड़े दिखायी पड़ रहे हैं। ग़रीब को पर्णाच्छादित कुटीर के वैभव-शून्य आँगन के अन्धकार में आज भी पञ्चवटी का पवन झकोरे मार रहा है। आज भी पुत्र-विछोह के समय साधारण-से-साधारण माता के हृदय से कौशल्या का हृदय निकल पड़ता है। कहना न होगा कि मनुष्य का हृदय समस्त संसार को अपने प्रकाश से प्रकाशित किये हुए है तथा अनादि और अनन्त का सम्मेलन करा रहा है।

समस्त साहित्य को अथवा हृदय-प्रसूत भावों को एक बार सारे विश्व में इसी रूप में देखना पड़ेगा। तभी साहित्य के आधार का सच्चा ज्ञान हो सकेगा।

भाव—जो साहित्य का एकमात्र आधार है—हृदय के सहारे तथा मनुष्य की अपने को दूसरे पर प्रकाशित करने की भावना के सहारे साधारण मनुष्यों के सुख-दुःखों की कहानी को महलों की और महलों की गाथाओं को साधारण सहस्र-छिद्र-विभूषित कुटियाओं की बना दे सकने में समर्थ है। आज इसी दृष्टि से जब हम महाकवि वाल्मीकि और व्यास की ओर देखते हैं, तो वे न केवल भारत के किन्तु अखिल संसार के सामने सबसे ऊँचे आसन पर बैठे दिखाई पड़ते हैं। इसका क्या कारण है—यही कि उनके हृदय-भाव ने अपने को अखिल विश्व के हृदय-भाव से मिला दिया है।

यह 'भाव-रचना' का क्षेत्र स्थूल रूप से यद्यपि कर्म-क्षेत्र की अपेक्षा संकीर्ण दिखायी पड़ता है, तो भी वास्तव में मनुष्य का हृदय भाव-रचना के क्षेत्र में जितना स्वतंत्र और मुक्त है, उतना कर्मक्षेत्र में नहीं। आज कवि अपनी संकीर्ण कुटिया में बैठकर संसार को अपना और अपने को संसार का बना सकता है, बना रहा है। अथवा यों कहिए कि इस दृश्य-संसार के चारों ओर वह एक भावमय संसार की नवीन रचना कर इसे उसमें और उसे इसमें देख रहा है—देख ही नहीं, बल्कि सत्य सिद्ध कर रहा है। इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं आदि कवि वाल्मीकि और सिद्धवाक् व्यास।



कविता का विकास-सिद्धान्त

(Theory of evolution)

Universal truth is the object of Poetry

अर्थात् सार्वभौमिक सत्य ही कविता का लक्ष्य है



घर्ष में बिजली पैदा करने की शक्ति संभृत है। परन्तु संघर्ष के लिये दो भिन्न पदार्थों का अस्तित्व अनिवार्य है। संसार की परिभाषा या उसका मूर्त्त स्वरूप है संघर्ष। संघर्ष का रूढ़िगत अर्थ है युद्ध या द्वन्द। परन्तु इसका व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ दो वस्तुओं का या शक्तियों का परस्पर संमिश्रण ही होता है। किन्तु यह बात अवश्य है; जब यह संमिश्रण साधारण न होकर असाधारण रूप धारण कर लेता है तभी 'संघर्ष-संज्ञा' को प्राप्त होता है।

संघर्ष का अर्थ हुआ अच्छी तरह टक्कर खाना। यह अर्थ न केवल वस्तुगत ही है वरन् सामाजिकक्षेत्र में पहुँचने के पश्चात् यह शब्द अपने व्यापक अर्थ-व्यवहार—में भी प्रयुक्त होने लगता है। अस्तु, हृदय का हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है उसका मुख्य कारण है पारस्परिक-संघर्ष। इस प्रकार दो हृदयों का संघर्ष-जन्य-प्रभाव ही विनिमय नाम से प्रख्यात होता है।

विनिमय का अर्थ है अदल बदल। जब दो हृदय संघर्ष (contact) में आते हैं, अवश्य एक का दूसरे पर कुछ न कुछ प्रभाव अंशतः आविष्ट रह जाता है। और इस प्रकार दोनों ओर संस्कृति - विनिमय का श्रीगणेश हो जाता है। जो फिर अपनी अपनी ओर अपनी स्वतन्त्र मनोवृत्ति के रस से अभिसिक्त होकर प्रौढ़त्व प्राप्त करता रहता है।

साहित्य को यदि समाज की भावना-समष्टि कहा जाय तो संस्कृति-विनिमय या भावना - विनिमय को उसका साधन कहने को वाध्य होना पड़ेगा। कारण, साहित्य का आरम्भ दो मनुष्यों, दो जातियों, दो देशों अथवा वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध से होता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अपने हृदय को दूसरे के हृदय से बिना मिलाये जीवित नहीं रह सकता। और सच पूछा जाय तो मनुष्य का मनुष्यत्व ही इस बात में है कि वह अखिल संसार से अपना अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करे। और मनुष्य के इसी कृत्य की असमाप्ति को आचार्यों ने संसार की परिभाषा माना है। क्योंकि समाज का व्यष्टि और समष्टि रूप केवल इसी आधार पर निर्भर है। अतः संघर्षसंचार में संसार और संघर्ष संवरण में प्रलय है।

किसी जाति का भावना-कोष, उसके स्वयं के व्यक्तियों के और दूसरी जातियों के व्यक्तियों के पारस्परिक संघर्ष-जन्य भाव-विनिमय का फल ही तो है, बस इसी आधार पर भावना-मन्दिर (काव्य) की परिभाषा करने के लिये दो वस्तुओं के अस्तित्व की आवश्यकता

है। क्योंकि काव्य भीतर की वस्तु को बाहिर की, भाव की वस्तु को भाषा की, क्षणिक को चिरकाल की एवं एक हृदय की को दूसरे हृदय की, छोटी को बड़ी और सीमित को व्याप्त बना-बनाकर संघर्ष शब्द की पर्यालोचना करता रहता है। दूसरे शब्दों में यों समझ लीजिये कि एकत्व का द्वैतभाव होना ही काव्य भावना का आविर्भाव होना है।

हृदय और दृश्य जगत् जब तक एक हैं तब तक साहित्य-निर्माण का सूत्रपात असम्भव है। परन्तु जहाँ एक दूसरे से पृथक् होकर रागात्मिका-वृत्ति की प्रेरणा से अपने पार्थक्य को फिर अभिन्नत्व में परिणत कर देते हैं वहीं कविता का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी पारस्परिक संचरण को विनिमय कहते हैं।

यहाँ यह ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि यह संचरण वस्तु का वस्तु में नहीं होता, भावना का भावना में होता है। मनुष्य का हृदय सांसारिक भावनाओं से प्रेरित होकर अपना जो रूप उपस्थित करता है वही तो कवित्व नाम से प्रख्यात होता है।

मानवजाति के स्वभाव में एक विशेष प्रकार की समता है। वह स्वभाव से ही जाति या समाज का निर्माता है और इसी समता का फल समाज की आवश्यकता का जनक है। संसार की विवेक-पूर्ण स्थिति ही का दूसरा नाम समाज है।

समाज का व्यापक अर्थ है दृश्य जगत्

प्रत्येक सामाजिक के लिये, दूसरा सामाजिक दृश्य जगत् का विषय 'बनता रहता है। इसी महत्व-पूर्ण

सम्बन्ध में जो कवित्व सन्निविष्ट है, भावना-संघर्ष के रूप में आविर्भूत हो पड़ता है।

दृश्य-शब्द के अन्तर्गत, केवल नेत्रों के विषय का ही नहीं, अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का भी (जैसे शब्द, गन्ध, रस) ग्रहण समझना चाहिये। परन्तु इस शब्द का अधिकतर सम्बन्ध नेत्रों से ही सिद्ध होता है। इसीलिये दृश्य-जगत् का चक्षुरेन्द्रिय के सन्निकर्ष से हृदय पटल पर पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही, हृदय की मौलिक भावनाओं से टकराकर जो रूप धारण करता है वही दृश्य-जगत् का वह रूप है जो क्षण-भंगुर न रहकर चिरकाल का विषय बन जाता है। अर्थात् कवित्वकोटि को प्राप्त कर लेता है।

काव्य-क्षेत्र का अस्तित्व दृश्य-जगत् पर ही निर्भर है। काव्य समीक्षकों ने वर्ण्य-विषय के दो पक्ष माने हैं। ज्ञातृ पक्ष (subjective) और ज्ञेय पक्ष (objective) जो वस्तुएँ वाह्य-जगत् का विषय हैं, वे हैं ज्ञेय पक्ष में और जो अन्तर्जगत् का अर्थात् हमारे हृदय में भावरूप धारण किये हुए हैं, ज्ञात पक्ष में हैं। ऐसी अवस्था में काव्य की सामग्री के दो भेद हो जाते हैं (१) भावनाप्रधान और (२) वस्तुप्रधान।

भावना प्रधान सामग्री वह है जो हमें हमारे पूर्वजों की काव्य कृतियों से प्राप्त होती है। जैसे महाकवि भवभूति एवं कालिदास आदि के हृदय वृत्ति के रस में रँगा हुआ संसार जब हमारे सामने आता है—हृदय उनके हृदय से टकराता है, तुरन्त एक नयी भावना का

आविर्भाव हो जाता है। इसका क्या कारण है ? यही कि मानव हृदय में एक ऐसी विचित्रता है कि वह जितना ही अधिक नये नये हृदयों से टकरायगा, नवीनता प्राप्त करता चला जायगा ।

जिस समय हम किसी काव्य को पढ़ते हैं, कवि से—उस काव्य के रचयिता से—हम साक्षात्कार सा अनुभव करने लगते हैं। ऐसा क्यों ? इसलिये कि हमारा हृदय उसके हृदय से अलक्षित किन्तु अनुभव सुलभ एकत्व प्राप्त कर लेता है। यही अलक्षित किन्तु अनुभव सिद्ध एकता कवित्व है जो दृश्य जगत् की क्षणभंगुरता को चिरकाल की वस्तु बना देती है।

काव्य की वस्तुगत सामग्री क्षणभंगुर है और भावगत सामग्री चिरस्थायिनी। इसका कारण यह है कि कवित्व दृश्य-वस्तु की संजीवनी शक्ति को हृदय वृत्ति की सुधा पिलाकर अनन्त काल के लिये स्थायी बना देता है। कवित्व के इस कार्य की विवेचना बड़ी कठिन एवं सूक्ष्म है।

एक हृदय में जो बात समा जाती है उसे दूसरे हृदय तक पहुँचाने के लिये जिन साधनों का अवलम्ब लेना पड़ता है, उनकी विवेचना ही काव्य-कला कहलाती है।

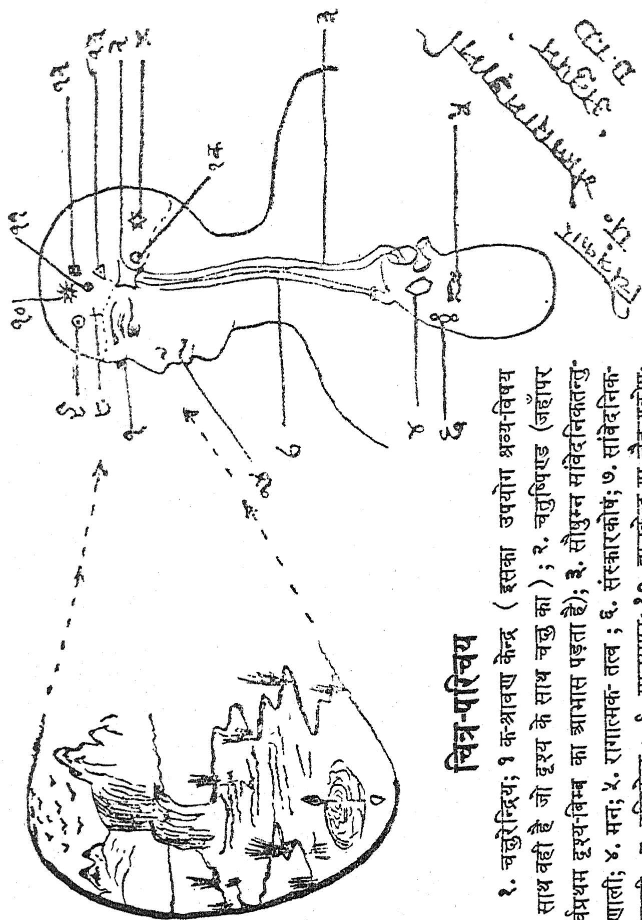
वैसे तो समस्त संसार ही काव्य-कला का हेतु है, परन्तु मुख्य रूप से यह सौभाग्य, सौंदर्य को ही प्राप्त है। संसार की सुन्दर वस्तुओं का दृश्य कविता की भावना का जनक है। एक सुन्दर वस्तु का प्रतिबिम्ब हृदय पर पहुँचकर दो प्रकार के भाव उत्पन्न

करेगा। (१) बिम्ब-प्रधान भाव और (२) अर्थ-प्रधान। बिम्ब-प्रधान भावना से काव्य में उपमादि सादृश्य-मूलक अलंकारों का प्रादुर्भाव होता है।

इतना हो चुकने पर भी एक हृदय के भाव को दूसरे हृदय तक पहुँचाने के लिये भावना उत्कर्षक साधनों को काम में लाना पड़ता है। क्योंकि हमारे हृदय के भाव-चित्र को दूसरे हृदय तक पहुँचाने के लिये कुछ बड़ा करना पड़ता है तब कहीं दूसरा हृदय उस चित्र का सौंदर्य अनुभव कर पाता है। इस सूक्ष्म को विराट और विराट को हृदय में स्थान देने के लिये सूक्ष्म करने की क्रिया का निरन्तर द्वन्द, संघर्ष-मूलक भावना-विनिमय है। यह भावना-विनिमय एक जाति से दूसरी जाति में, एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में, एक साहित्य से दूसरे साहित्य में अनादि से होता आ रहा है और अनन्तकाल तक होता रहेगा। इसी में विश्व का अस्तित्व सिद्ध होता है।

कविता की दार्शनिकता बड़े सूक्ष्म-विवेचन की अपेक्षा रखती है। भावना जो प्रत्येक समय प्रत्येक मनुष्य के हृदय में उठती है संस्कारों की अनुकूलता न पाकर विनष्ट हो जाती है। परन्तु एक कवि *

*That he is the wisest, the happiest & the best, in as much as he is a poet, is equally incontrovertible, the greatest poets have been men of the most spotless virtue, of the most consumenate prudence, and, if we would look into the interior of their lives, the most fortunate of men.—The Defence of Poetry.



चित्र-परिचय

१. चक्षुरेन्द्रिय; १ क-श्रावण केन्द्र (इसका उपयोग श्रव्य-विषय के साथ वही है जो दृश्य के साथ चक्षु का) ; २. चतुष्पिण्ड (जहाँपर सर्वप्रथम दृश्य-बिम्ब का आभास पड़ता है); ३. सौषुम्न सांवेदनिकतन्तु-प्रणाली; ४. मन; ५. रागात्मक- तत्व ; ६. संस्कारकोष; ७. सांवेदनिक-प्रणाली ; ८. बुद्धिकेन्द्र ; ९. मानसपट; १०. ज्ञानकेन्द्र या चैतन्यकोष; ११. कल्पना केन्द्र ; १२. आकारकोष ; १३. वाणी - केन्द्र ;

१४. शब्द-विन्यास या कविता (प्रस्तुत दृश्य को देखकर जो-जो क्रियाएँ जहाँ-जहाँ हुई हैं उनका अंतिम परिणाम यह अगले पृष्ठ पर दी हुई 'प्रपात के प्रति' शीर्षक कविता है । किसी भी दृश्य को देखकर या विषय को सुनकर यह क्रियाएँ असंलक्ष्य क्रम से इतनी सत्वर होती हैं कि काल का परिमाण नहीं लगाया जा सकता है) × दृष्टि-बिम्ब (वस्तु या दृश्य का अनुभव यहीं से होता है)

चित्र-व्याख्या

सर्वप्रथम वहिर्जगत् का प्रतिबिम्ब चक्षु द्वारा अन्तर्गत् में प्रवेश करके नं० ३ प्रणाली में होता हुआ हृदय या मन पर पड़ता है। यहाँ रागतत्व उत्तेजित होकर भावना को प्रेरणा के रूप में बदलकर संस्कार का सहयोग लेता है। यदि संस्कार दृश्य के अनुकूल नहीं होते तो सारी क्रिया यहीं तक समाप्त हो जाती है। विस्मृति का जाल फैल जाता है; और यदि संस्कार दृश्य के प्रतिकूल नहीं पड़ते तो मन के सहयोग से उत्पन्न विचारधारा प्रेरणा बनकर नं० ७-प्रणाली से चतुष्पिण्ड में पहुँचकर बुद्धिकेन्द्र, मानसपट, चैतन्यकोष, कल्पनाकेन्द्र इत्यादि में असंलक्ष्य क्रमशः आकारकेन्द्र के तन्तुओं का सहयोग प्राप्त करती हुई वाणीकेन्द्र के प्रकम्पनशील तन्तुओं द्वारा शब्द में परिणत हो जाती है। इसी को हम 'काव्य' या 'कविता' नाम देते हैं।

प्रपात के प्रति !

(१)

भग्नहृदय का सा उद्गार,
गमन आगमन का न विचार।
अविरल बहती तेरी—धार,
तनिक नहीं है तुझमें हार।
सुन ले थोड़ी प्रबल प्रपात !
क्षणिक ठहरकर मन की बात॥

(२)

हे प्रपात ! तव सुन्दर गात,
श्वेत कान्ति यश सा विख्यात,
विश्रामस्थल है अज्ञात,
लेकर सँग में बाल-किरात[1]।
किसे खोजने जाता भाग ?
लिये गर्भ में शीतल आग॥

(३)

सुदृढ़ शिलोच्चय विस्तृत जान,
मानव-हृदय संकुचित मान।
विश्व-विरह ने क्या सुस्थान !
यहाँ बनाया है सुख—मान ?
वही पिघलकर निकला आन,
विश्व(व्यथा)का-सा उपमान॥

(४)

रे उन्मत्त उदधि में लीन,
तेरे प्रेमीजन ये मीन।
विलुठित होते होकर दीन,
हुए जा रहे प्रतिक्षण हीन।
उदधि-प्रेम दीवाने मान !
इन्हें विरह-विष कर न प्रदान॥

१—किरातों के बालकों को।

के हृदय की प्रथम भावना का विस्तार इतना भारी स्वरूप धारण कर लेता है जिसमें एक नहीं दो नहीं विश्व-मानव की भावनाएँ तल्लीन हो जाती हैं। हमारे इस कथन से सिद्ध हो जाता है कि कवि किसी व्यक्ति विशेष का सूचक शब्द नहीं है बल्कि यह एक ऐसे अलौकिक गुण का प्रत्यक्षीकरण करता है जिसमें रागात्मक संस्कारों का इतना प्राचुर्य हो कि जो समस्त-संसार को रागबद्ध कर सकने का साधन बनाया जा सकता है। कवि समस्त संसार को जिस सुन्दरता का बागा पहिनाता है वही सुन्दरता 'कविता' नाम से प्रसिद्ध होती है।

अखिल विश्व का निर्माण कोई कम रहस्य की बात नहीं है। बड़े-बड़े दार्शनिक वर्षों खाक छान-छानकर चलते बने परन्तु संसार क्या है, सुख किसका नाम और दुःख किसका आदि समस्याओं को न सुलझा सके। फिर भला कविता जो इतनी बड़ी विकट समस्या के लिये भी एक समस्या है, थोड़ी-सी देर में समझने की वस्तु क्यों कर हो सकती है! कविता की दार्शनिक विशेषता के लिये एरिस्टोटल कहता है— "Poetry is more Philosophical & a more serious thing than History" और है भी सच इतिहास जातियों, राष्ट्रों और महाद्वीपों के उत्थान-पतन की कहानी है, जब कि कविता उन भावनाओं के विनिमय-सिद्धान्त का सूचीपत्र है जिनकी प्रेरणा का फल वह कहानी (इतिहास) आज उपस्थित है।

भावों का यह विनिमय-सिद्धान्त जिस सिद्धान्त पर

चलता है, वह है सौन्दर्य तत्त्व। हमने बतलाया है कि कवि * समस्त विश्व में अपूर्व सौन्दर्य की स्थापना करनेवाला होता है। और यह सौंदर्य तत्त्व कवि के हृदय और मस्तिष्क की मिलित तथा विशिष्ट भावना का विकार है। वास्तव में वह वस्तु या पदार्थ ज़िसके प्रति कवि के मस्तिष्क में एक विशेष स्थान प्राप्त है—स्वयं तो जैसा कुछ है वैसा ही है—परन्तु कवि का हृदय उसे सौंदर्ययुक्त समझता है, इसलिये वह सुन्दर है। एक पाण्डुरोगी व्यक्ति को समस्त पदार्थ पीताभ दिखाई पड़ते हैं, यद्यपि पदार्थों के रँग में कोई विकार नहीं है, विकार है केवल दृष्टि-तन्तुओं में। इसीलिये समस्त पदार्थ पीले भासते हैं।

यही बात सांसारिक पदार्थों के साथ विचारक की है। एक ही वस्तु एक व्यक्ति के लिये सुन्दर और दूसरे के लिये असुन्दर हो सकती है। अस्तु, निष्कर्ष निकलता है कि सौंदर्य पदार्थगत नहीं वासनागत है। परन्तु यह बात अवश्य है कि यही वासनागत सौंदर्य काव्य-क्षेत्र में पहुँचकर भाव की वस्तु के स्वरूप में पदार्थगत हो जाता है।

बाह्यजगत् के पदार्थों का **दृश्यात्मक-विकार** हृदय या मस्तिष्क में आनेवाला प्रथम विकार है। जैसे ही यह विकार अन्तर्जगत् से मिलता है **संस्कार-कोष** प्रबुद्ध हो उठता है। संस्कारों के प्रबुद्ध होने पर

* Beauty is no quality in things themselves; it exists merely in the mind which contemplates them ——— Hume.

सांकेतिक (संस्कारों के संकेत से उद्भूत) विकार होता है। इतना हो चुकने में कितना सा काल लगता है यह कहना असंभव है। यह सभी क्रिया एक क्षण के भी शतांश भाग में ही कदाचित् हो चुकती होगी। इस क्रिया का अन्त ही भावना का प्रथम स्वरूप है।

भावना का प्रादुर्भाव जहाँ साकार होने लगता है वहीं कविता का प्रत्यक्ष स्वरूप स्वयंसिद्ध हो जाता है। इस प्रकार कविता का विश्लेषणात्मक-विवेचन कर चुकने पर हम अब यह निश्चय कर सकते हैं कि कविता अपने वास्तविक स्वरूप में आने से पूर्व चार अवस्थाओं का आश्रय लेती है: —

१—दृश्यात्मक-विकार
२—संस्कारात्मक-विकार
३—संकेतात्मक-विकार
४—भावात्मक-स्वरूप
} *यह सब धारणा मूलक हैं

फिर कविता (काव्य)

इस प्रकार से प्राप्त, कविता रूपी सार पदार्थ का यदि तथ्यातथ्य निर्णय किया जाय तो कदाचित् सारा प्रयास निष्फल ही जायगा। क्योंकि कविता का विषय परीक्षा पर रखने से चाहे असत्य सिद्ध हो जाय परन्तु उस समय तक कि जब तक उसमें हृदय को वश में करने की सत्यता का संस्कार है वह परम सत्य ही है। तर्क के कर्कश सिद्धान्तों का सत्य कविता की 'सत्चित् आनन्दमयता' की परीक्षा पर

* धारणा मस्तिष्क की आत्मा और संस्कारों की पिटारी है।

लागू नहीं हो सकता। कविता का सत्य अनुभव ज्ञातव्य पदार्थ है।

५

काव्य में अलङ्कार का स्थान

भावना को मूर्त्त स्वरूप देने का साधन ही अलङ्कार है

अपने मनोगत भावों को साकार स्वरूप देकर दूसरे हृदय में समानता की हिलोर उठा देना ही काव्य में अलंकारों को स्थान देना है।



का

व्य एक हृदय का दूसरे हृदय से मूक-सम्मिलन है भीतर की वस्तु के प्रकाश और वाह्य-पदार्थ के अन्तर्वास सम्बन्धिनी प्रक्रिया हो काव्यशास्त्र का कार्य है। विश्व-बंधुत्व की स्थापना का सरल से सरल एवं शीघ्र से शीघ्र साधन होना ही काव्य का एकान्त उद्देश्य है।

काव्य की रूपरेखा, कार्य और उद्देश्य जान लेने पर स्वभावतः यह प्रश्न होता है कि वे कौनसे उपाय हैं जिनके द्वारा काव्य हृदय का हृदय से मेल करा कर विश्व-बंधुत्व की स्थापना करने में समर्थ होता है? हृदयोद्‌भूत भावना का जो मज़ा और आनन्द कवि को आ रहा है वह कैसे कहा जाय और क्योंकर दूसरों को समझाया जाय? इसी प्रश्न का उत्तर हमारे लिये विवेचनीय है।

अच्छापन और बुरापन एक बालक के लिये भी अनुभवगम्य विषय है। प्रेम और वैर—थोड़ी सी भी बुद्धि का विकास जिसमें हो जाता है—वह बालक

भली भाँति समझ लेता है। परन्तु वह यह नहीं कह सकता कि इसके अच्छा और बुरा होने का या प्रेम और वैर करने का क्या कारण है? इसका कारण है उसकी बुद्धि, वाणी और सांसारिक-ज्ञान-मात्रा के विकास की कमी।

इसी प्रकार एक कवि और समाज में बुद्धि, हृदय और अनुभव के नाते यही अनुपात चलता है।

भगवान् श्रीराम का चरित्र किसने नहीं सुना? फिर भवभूति के हृदय में ही तो क्यों दूसरी भावनाएँ उठ सकीं और दूसरे सामाजिकों में उस चरित्र का प्रभाव दूसरे ही प्रकार से क्यों पड़ा? बस इसी प्रश्न का उत्तर हमारी उपर्युक्त पंक्तियाँ हैं।

काव्यशास्त्र दो तत्त्वों का मेल है—(१) उत्कर्ष और (२) सौंदर्य। इन्हीं दो तत्त्वों के कारण काव्य में जीवन आता है। उच्चता (Stature) और सौंदर्य (Charm) यही दो तत्त्व काव्य-पिपासा को कभी शान्त नहीं होने देते। श्रीरामचरित्र को हजारों वर्षों से बराबर सुनते, पढ़ते और प्रत्यक्ष दृश्यों के द्वारा देखते चले आने पर भी आज तक उसके सुनने, पढ़ने और देखने की रुचि में शिथिलता नहीं आई! यही उत्कर्ष और सौंदर्य की चिरस्थायिनी शक्ति है।

काव्य-रचना की पहिली सीढ़ी कवि हृदय पर पड़ने वाली वह वाह्य-पदार्थों की छाप है जो अन्तर्वृत्तियों के प्रभाव से पक्की होकर वर्णनशैली के मज़बूत ढाँचे में ढलकर भाषा के मंच पर अनन्तकाल के लिये काव्यरूप में उपस्थित हो जाती है।

काव्य का स्थायित्व उसके सौंदर्य और उत्कर्ष के अनुपात पर निर्भर होता है। जिस काव्य में जितना ही ज्यादा चमत्कार और तथ्य होगा वह उतना ही अधिक स्थायी और सर्वप्रिय होता जायगा। उसके प्रति समाज की पिपासा कभी भी शान्त नहीं हो सकेगी।

भाव का विशिष्ट-शब्द-संचयन द्वारा प्रकाशन ही काव्य है। यहाँ 'विशिष्ट' का अर्थ ऐसे शब्द-समूह-सन्निवेश से है, जिसमें ऐसा चमत्कार हो कि दिल मान जाय।

चमत्कार, शब्द और अर्थ की अपेक्षा अवश्य रखता है परंतु शब्द और अर्थ में चमत्कार हो ही हो यह कोई जरूरी बात नहीं। इसीलिये चमत्कार वर्णन करने की शैली विशेष का मोहताज हो जाता है।

वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य में शैली का आदर तो बहुत है। बड़े-बड़े पाश्चात्य-शैली के अनुसार हिन्दी-साहित्य का मनन करनेवाले विद्वान् शैली के नाम पर नक्क़ारा पीट-पीटकर शैली की कपालक्रिया करने पर उतारू रहते हैं, परन्तु मनोगत भावना का सम्यक् प्रकाशन जिन सिद्धान्तों के आधार पर हो सकता है उनसे उनका रंचक भी परिचय नहीं।

शब्द और अर्थ जिस प्रकार चमत्कार उत्पादन कर सकें उस प्रकार उनका प्रयोग ही काव्य में अलङ्कार को स्थान देने का मूल हेतु है।

चमत्कार कभी शब्द में, कभी अर्थ में एवं कभी-कभी उभयत्र होता है। जब शब्द में होता है, तो वह 'शब्दालङ्कार' कहलाता है। अर्थगत होने से

'अर्थालङ्कार' और शब्दार्थ दोनों में उसके (चमत्कार) के रहने पर 'उभयालङ्कार' कहलाता है।

इन तीन प्रकार के अलङ्कारों की सभेद उपपत्ति करके कई भेदोपभेद बना डाले गये हैं। अलङ्कार शास्त्र बड़ा गहन और रोचक है। एक बात के कहने के कई ढंग हो सकते हैं इसी प्रकार अलङ्कार भी एक नहीं अनेक हो सकते हैं। काव्याचार्यों ने वर्णन शैली के चमत्कारोत्पादक ढँगों को अलङ्कार नाम देकर उनका श्रेणी-विभाजन और प्रकार-निरूपण करके एक भिन्न शास्त्र—'अलङ्कार-शास्त्र' बना डाला है।

हृदय की भावमयी अस्फुट चित्रावली बाहर कैसे आवे? इस प्रयास की सफलता अलङ्कारों द्वारा सम्पादन की जाती है।

बाह्य-जगत् का हृदय से मूक-सम्मेलन होते ही मनोवृत्ति की सुकोमल तूलिका अतिरंजना के रँग का सहारा पाकर जो चित्र खींचती है वही सालंकारी रचना के रूप में हमारे सामने कवि के हृदय की प्रतिकृति उपस्थित होती है।

इसका कारण यह है कि एक बात जिसे हमने समझ रक्खा है, दूसरे के हृदय पर वैसा ही प्रभाव डाल सकने में जभी समर्थ हो सकती है कि जब उसका आकर्षण, रूप, प्रभाव और चमत्कार हमारे और दूसरे के हृदयान्तर मार्ग में वैसे का वैसा बना रहकर उसके हृदय में पहुँच सके कि जिसके पास हम पहुँचना चाहते हैं।

हृदय अपने स्वरूप को दूसरे पर प्रकट करने के लिये सदैव सचेष्ट रहता है। इस कार्य में उसे कल्पना-शक्ति—जो मस्तिष्क की आँख है—उसका सहारा लेना पड़ता है। भावना का आधार हृदय (जिस में प्रथम भावना उत्पन्न होती है) दूसरे हृदय पर अपने स्वरूप को प्रकट करते समय—केवल इसलिये कि उसकी भावना का यथावत् स्वरूप दूसरे हृदय तक पहुँच जाय—अपने स्वरूप को द्विगुण कर लेता है। एक तो मूल भावना का स्वरूप होता ही है और दूसरा उसी भावना के अनुरूप ऐसा स्वरूप कल्पित करता है जिसके द्वारा उसकी मूल भावना का सौंदर्य-विस्तार सादृश्य-सूचक रहते हुए द्विगुण होकर मूल भावना को दूसरे हृदय तक अपने मौलिक स्वरूप में पहुँचा सके।

हृदय की यह क्रिया उपमादि सादृश्य मूलक अलंकारों की सृष्टि करती है।

संकेत - ग्रहण बिम्ब - ग्रहण और अर्थ-ग्रहण क्रिया ही अलङ्कारों के मूक अङ्ग हैं। हृदय की भावमयी छवि उपर्युक्त तीनि साधनों के सहारे

हृदय-चित्र के प्रतिबिम्ब को संकेतग्रहण-क्रिया, बिम्बग्रहण-क्रिया, या अर्थग्रहण-क्रिया द्वारा दूने परिमाण का बनाकर दूसरे हृदय के समीप पहुँचा देने तक तो अलंकार शैली के साधक एवं वर्णन-शैली के एक प्रकार से भेद स्वरूप रहते हैं। और जहाँ इनका प्राधान्य होकर वास्तविक अर्थात् हृदय की मूल भावना का सत्य-स्वरूप बिल्कुल ही नष्टप्राय हो जाता है, वहाँ इनका कोई मूल्य नहीं रह जाता है। बल्कि काव्य का जो चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत और आत्मभूत को सर्वभूत

करा के अनुभव कराना है, उसमें भी हानि पहुँ-
ही साकाररूप में आती है। चाने के हेतु बन जाते हैं। क्योंकि मूलभावना का वास्तविक स्वरूप अलंकार की अस्वाभाविकता में सादृश्यमूलीय-वस्तु का प्राधान्य हो जाने से मूल-वस्तु का उसमें तिरोधान हो जाता है।

काव्य में अलंकार का स्थान वहीं तक उचित है जहाँ तक स्वभावानुकूल भावोत्कर्ष दिखलाने में वे समर्थ हो सकते हैं।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो चुकता है कि काव्य-चमत्कार के भेद ही अलंकार आदि हैं। इनके वास्तविक स्वरूप को न जानकर ही लोग इनके विरोध में आवाज़ उठाते हैं। किसी भी विषय का अनध्ययन इस प्रकार की गड़बड़ी का कारण हुआ करता है। हृदय के विकास और अलंकार दोनों में क्या अन्तर है, यह जाने बिना पत्र-पत्रिकाओं में हाहाकार मचाना काव्य के गुण चमत्कार पर छुरी चलाने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।

जो अलंकार सृष्टि के आदिकाल से जंगली जातियों से लेकर इस सभ्यता की दुपहरी की उन्नतिशील जातियों के आचार्यों तक के हृदय की भावनाओं को मूर्त्त-रूप देने के साधन रहे हैं और हैं—उन अलङ्कारों का महत्व न समझकर—केवल उनके रीतिकालीन विकृत-स्वरूप के—नहीं-नहीं—उसके टूटे-फूटे स्वरूप को देखकर उसकी मौलिक-उपादेयता के प्रति अश्रद्धा प्रकट कर देना अत्यन्त निन्दनीय कार्य नहीं तो क्या है?

'अलङ्कार' नाम उपमादि अलङ्कारों तक ही सीमित नहीं है। बल्कि वह प्रत्येक साधन, जिसके कारण किसी रचना में चमत्कार आता है—अलङ्कार ही है।

अस्तु, अलङ्कार का काव्य में वही स्थान है जो मुख में जिह्वा का। हृदय में उठनेवाले भाव, तद्रूप दूसरी भावना का स्वरूप गढ़े बिना कभी काव्य-क्षेत्र में चमत्कारोत्पादक नहीं हो सकते—अर्थात् काव्यरूप नहीं पा सकते, तब! संसार की सर्वश्रेष्ठ कला, काव्य-कला का क्या हश्र होगा?

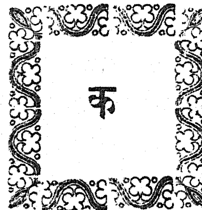
हाँ, यह बात अवश्य है कि अलङ्कार मूलभावना के पोषक जहाँ तक हों वहीं तक शैली के अन्तर्गत परिगणित हो सकते हैं। इसके बाहर निकलने पर वेही दुर्गुण, हेय और त्याज्य हो जाते हैं।

६

*कविता और उसका प्रभाव

कविता हृदय की प्रतिकृति है

राग - प्रेरित सामुहिक भावनाओं का उत्कर्ष ही कविता है।



विता क्या है, उसका आरंभ कब से और कहाँ से हुआ तथा इसका उद्देश्य क्या है? आदि मनोद्भव प्रश्नों पर कई बार कितने ही विद्वानों ने विचार

---

*Poetry is the record of the best & happiest moments of the happiest & best minds.—The Defence of Poetry.

कविता शेष सृष्टि से हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का सरलतम साधन है। कविता दुःख का सुखमय चित्र है।

किया है और प्रायः नित्य नये २ ढंग से विचार होता आ जा रहा है। परन्तु अभी तक यह निर्णय नहीं हो सका है कि इस मनोज-काव्य-माधुर्य में वह कौन सा जादू है जो पंडित, मूर्ख, उन्नत, अवनत, विजयी, विजेता, राजा, प्रजा, स्वामी, सेवक और मित्र-शत्रु सभी हृदय रखने वाले मनुष्य-जीवों को समान रूप से मुग्ध कर लेता है।

कविता की शक्ति ने अखिल-मानव-विश्व को मंत्र-मुग्ध (spell-charmed) बना रक्खा है। इस पर विचार करने से अनुभव होता है कि मानव-मनोभाव का मूल तत्व 'राग' एक ऐसा तत्व है जिसका मानव जाति के उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ हमेशा परिवर्त्तन होता जाता है। इसी कारण मानव-जाति की सामुहिक भावनाएँ किसी विशेष लक्ष्य की ओर प्रेरित रहती हैं। इसी लक्ष्य के अनुरूप जो एक वातावरण तैयार होता है, वही कविता का उज्ज्वल किन्तु रागमय क्षेत्र है, जहाँ हृदय के अलक्ष्य-पट के किसी अज्ञात कोने से अह-रह-मूक-भावनाएँ सुख और दुःख के संपुट में सन्निविष्ट सवाक् होने की चेष्टा में अनुरक्त विश्व-बंधुत्व का उज्ज्वल-उद्देश्य कवि की अन्तरात्मा में गुँजाने लगती हैं। बस, वहीं से कविता की स्निग्ध-रश्मि का प्रथम-प्रकाश होता है।

सन्ध्या में उषा-हास, जीवन में मृत्यु और

कविता किसी नवीन तत्व की सृष्टि है, जो कवि - हृदय के सहारे प्रकृति में भिन्नता की सृष्टि करती है। संभव है हमारा यह कथन पाठकों

प्रकाश में अन्धकार की भाँति भिन्नता में ऐक्य का अलक्ष्यसूत्र सन्निहित रहता है। इसी सूत्रका विकास कलाकार प्रकृति में भिन्नता लाकर करता है।

को विपरीत सा प्रतीत हो, परन्तु "कविता शेष सृष्टि से हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है अथवा Poetry is the true means which creates direct touch with life in true sense" अर्थात् कविता ही एक वह साधन है जो जीवन से हमारा सत्य-सम्बन्ध स्थापित करती है। इन परिभाषाओं का विरोध स्वरूप नहीं है।

किसी भी कलाकार का पहिला कर्त्तव्य तो यही होना चाहिये कि प्रकृति में भिन्नता प्रकट करे। क्योंकि प्रकृति में कभी कभी समय की गति-विधि के कारण रूखापन और अरोचकता बढ़ जाती है तब कलाकार जिस तत्व की सृष्टि करता है वह इस सूखी और आकर्षणहीन प्रकृति में परिमार्जित सौष्ठव के द्वारा नया जीवन-संचरित कर देता है, तभी वह पुरानी प्रकृति हमें नई सी भासने लगती है। और हमारा आकर्षण उसके प्रति पुनः उत्तेजित हो उठता है। यह है प्रकृति में भिन्नता लाने का आशय। मरी हुई आत्मा में जीवन-वासना-स्फूर्ति तभी हो सकती है जब कला के प्रधान तत्त्व-सौंदर्य, उपयोगिता और नवीनता तीनों मिलकर वर्त्तमान् को भविष्यत् और भविष्यत् को वर्त्तमान् बनाती रहें। जब तक वर्त्तमान् से भिन्नता न होगी भविष्यत् असंभव है। इसीलिये नवीनता को जन्म देकर संसार का उससे अछेद्य सम्बन्ध स्थापित बनाए रखने का प्रयत्न करता रहे तभी तो वह (कलाकार) अखिल-विश्व से हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने को समर्थ होगा।

सत्यं,शिवं और सुन्दरं कविता के सच्चे उद्देश्य हैं जो विश्व मानव के हृदय में समान उत्साह जागरित करते हैं।

कविता की एक पंक्ति में भावना की वह लहर सन्निहित रहती है जिसके द्वारा विश्व-मानव के हृदय में एक समान-उत्साह जागरित हो उठता है। इसका कारण है उसकी सत्यता, शिवता और सुन्दरता।

कविता के दो क्षेत्र हैं। एक भावात्मक और दूसरा दृश्य-जगत् विषयक। पहिले हम दृश्य-जगत् विषयक क्षेत्र पर विचार करेंगे। इस क्षेत्र में हम अपने दैनिक जीवन की विभिन्न दशाओं—हर्ष, शोक, प्रेम, वैर, दैन्य-दौर्बल्य, जन्म-मरण, न्याय-अत्याचार, शांति और क्रान्ति आदि के व्यावहारिक स्वरूपों की बारम्बार उद्धरणी सी किया करते हैं। परन्तु फिर भी हमारी इन दृश्यों को देखने की पिपासा बुझ नहीं पाती। इसका क्या कारण है? यह द्वन्द्व सृष्टि के आरंभ से इसी प्रकार चलता आ रहा है और इसी प्रकार अनन्तकाल तक चलता रहेगा ऐसा ज्ञात होता है। परन्तु हमारी उत्कण्ठा इस संघर्ष के प्रति एकसी ही क्यों बनी हुई है? बस इन्हीं प्रश्नों का उत्तर कविता के बीज को अपने गर्भ में स्थान दिये हुए हैं।

हमारे उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के मिलित रूप की अनादि-काल से अनन्तकाल तक सतत् उद्धरणी करते रहना ही कविता का स्थिर उद्देश्य है।

आकस्मिक घटनाओं के विचित्र चित्र, भावात्मक क्षेत्र की सीमा में पहुँचकर चित्तवृत्तियों के बहुरंगे

सूत्रजाल से प्रभावित होकर विश्व-बंधुत्व का सूत्र-पात करनेवाली कविता का जीवन आरंभ करते हैं।

जड़त्व का अभाव करना ही कविता का कार्य है।

संसार दो प्रकार की वस्तुओं के सामञ्जस्य का नाम है—चैतन्य और जड़। और कविता इन दोनों में एकत्व स्थापित करने वाली शक्ति का। कविता के क्षेत्र में जड़ भी चैतन्य रूप हो जाता है क्योंकि कविता का काम ही चैतन्य में जड़ और जड़ में चैतन्य का प्रतिबिम्ब दिखाकर जड़त्व का नाश करके लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि करना है।

कविता एक प्रकार से जड़ पदार्थों में जीवन-स्फूर्ति करती है देखिये:—

दल राशि उठी खरे आतप में,
हिल अंचल औंध मचाती जहाँ।
उस एक हरे रँग में हलकी,
गहरी लहरी पड़ जाती जहाँ।
कल कर्बुरता नभ की प्रतिबिम्बित,
खंजन के मन भाती जहाँ।
कविता वह हाथ उठाये हुए—
चलिये कवि वृन्द बुलाती वहाँ।

(प्रो० रामचन्द्र शुक्ल)

कवि का हृदय किस जड़-प्रदेश में पहुँचकर कैसे उसे चैतन्य बनाकर चैतन्य-विश्व के साथ उसका सुदृढ़-सम्बन्ध स्थापित करके लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि कर देता है।

कवि-हृदय भावना-मन्दिर है। यहाँ पहुँचकर जड़ चैतन्य का पार्थक्य नष्ट हो जाता है। चैतन्य-

विश्व जड़विश्व के जड़त्व को नष्ट करके अपने सदृश्य संजीवनी शक्ति देकर उसके एक-एक परिमाणु को अपने जीवन के उतार-चढ़ाव के साथ २ मिलाकर राग-तत्व की अनन्त आराधना में तल्लीन हो जाता है। देखिये:—

क्षितिज-कूल पर क्षणिक खेलकर किया मधुरतम हास,
फिर क्यों तमोमयी रजनी सँग किया शीघ्र सहवास,
दिये सब स्वर्ण प्रसून बिखेर।
अरी सन्ध्या! यह क्या अन्धेर!
तेरे ही क्रीड़ास्थल में कर नित-नित नव शृंगार,
तारक-माल बनाकर रजनी करती दिव्य बिहार,
वही शुचि-स्वर्ण-प्रसून निवेर।
अरी सन्ध्या! यह क्या अन्धेर!
अस्थिर सुख-सौभाग्य प्राप्त कर विश्व विवर्ण बनाया,
इसीलिये सन्ध्या, इठलाने का तूने फल पाया,
गया वह था जो दिन का फेर।
इसी का है यह अब अन्धेर।
तूने रवि का, निशि ने तेरा लूटा सारा डेरा,
प्रबल निबल का घातक जग में—यह है रैन बसेरा,
नहीं है तनिक अरी अब देर।
उषा सब लूटेगी—अन्धेर!

(सहृदय)

इस कविता में वही सांसारिक-संघर्ष जड़ पदार्थों में भी जीवन डाल रहा है। अखिल विश्व को अपने राग में चिरकाल के लिये बाँध रहा है। प्रकृति के जीवन में मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब और मानव-

जीवन में प्रकृति की छवि की छाया एकाकार हो रही है। मानव-जीवन का अकाण्डताण्डव प्रकृति-क्षेत्र का प्यारा बन रहा है। रागतत्व पुंजीभूत होकर विश्व-मानव का हृदय बनने जा रहा है।

कविता की यह एक में अनेक और अनेक में एक को दिखलाने की शक्ति सार्वभौमिक है। कविता का काम है अपनी वस्तु को विश्व की और विश्व की वस्तु को अपनी बनाना। आप किसी भाषा के साहित्य को उठाकर देख लें—निस्सन्देह कविता को सर्वदा इसी लक्ष्य पर चलती हुई पाइयेगा। देखिये आङ्गल भाषा का सुप्रसिद्ध कवि शेली क्या राग अलाप रहा है:—

Away, Away, from men & towns,
To the wild wood & the downs—
To the silent wilderness
Where the soul need not repress
Its music, lest it should not find
An echo in another's mind,
While the touch of nature's art,
Harmonises heart to heart.

यद्यपि एकान्त-प्रियता का भाव स्पष्ट है। परन्तु उसमें भी हृदय की हृदय के साथ सामञ्जस्यता लगी ही हुई है। प्रकृति की कलात्मकता कवि-हृदय की कुशलता से रागबद्ध हुई अलौकिक सुख की प्राप्ति पर मुग्ध जान पड़ती है। विच्छेद-वासना में कैसा मीठा किन्तु स्थायी राग उपस्थित है। जिधर देखिये रागात्मक-सम्बन्ध-संस्थापनार्थ प्रयत्न हो रहा है।

जड़त्व में चैतन्याभास व्यापता चला जा रहा है। हृदय का एकान्त आनन्द विश्व-विडम्बनाओं से हटकर भी संसार के अकाण्डताण्डव को एकान्त आनन्द का स्वरूप देने का अविरल प्रयत्न कर रहा है।

कविता का मुख्य उद्देश्य, एकान्त सत्य की खोज, विभिन्नता में एकीकरण और सौंदर्य-संयुक्त राग का प्रसरण करना मात्र है। ज़रा देखियेः—

King—Shall I be able to understand the sense of what you have written?

Poet—No, King, what a poet writes is not meant to have any sense.

King—What then?

Poet—To have the true itself.

इस (True itself) पद में 'विश्व-मानव' को एक प्रेमसूत्र में गुम्फित करने की भावना ओत प्रोत है।

कविता का इतना विवेचन कर चुकने पर एवं उसका मानव जीवन से सम्बन्ध स्थापित कर चुकने पर अब हम यह कह सकते हैं कि आनन्दमय कोष (हृदय) कविता धारा का उद्गम स्थल है। दृश्य पदार्थों के संसर्ग से संस्कारात्मक - भावना-पुंज का विस्फोटन होने पर उपस्थित होने वाला चित्र-विशेष ही स्वयं कविता है। अथवा चक्षुरेन्द्रिय की झीनी चद्दर की ओट से कविमानस और विश्व-मानस का मौन - मिलन और मधुर हास ही हृदय क्षितिज पर एक अरुणिमप्रभा के रूप में कविता के संस्कार अङ्कित करने का प्रधान हेतु बनकर रागतत्त्व की

अनन्त-आराधना में लीन हो जाता है। और यहीं से कवि संसारी झंझटों से भी मुक्त हो जाता है। इसका कारण यही है कि कविता ईश्वर के पास तक पहुँचाने का सरलतम साधन है अथवा दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि शब्द, जो काव्य के आधार हैं सरसता का सम्पर्क पाते ही ब्रह्ममय होकर कवि को भी ब्रह्मानन्द-निमग्न कर देते हैं। यही कविता का सबसे बड़ा उद्देश्य और यही कविता की सबसे सूक्ष्म परिभाषा है। कहा है:—

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्,
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन,
व्यक्तिः सा तस्यचैतन्य चमत्कार-रसाह्वया॥

(अग्निपुराण)



हमारे साहित्य का सौंदर्य



तरद्वन्द्व न केवल नाट्य-साहित्य की ही अन्तरात्मा है, बल्कि संपूर्ण साहित्यकी संजीवनी-शक्ति है। संसार का साहित्य, सौंदर्य और असौंदर्य के नाटक के सिवा और है क्या? मानव स्वभाव की रुचि को दो भागों में बाँटने वाला यही सौंदर्यासौंदर्य का भाव है जिस पर क्या

पूर्व और क्या पश्चिम दोनों का साहित्य निर्भर है।

मानव हृदय की सानुराग बोधवृत्तियाँ और बाह्य-दृश्य तथा श्रव्य विषयों का उन पर पड़ने वाला प्रभाव, इस क्षणिक, स्वभाव-प्रेरित कार्य के बीच की सूक्ष्म-क्रिया की तथा तज्जन्य उत्तर परिणाम की जिस देश ने जितनी ही गवेषणा की है, उसका साहित्य उतना ही आदर्श बन सका है।

संसार है, इसमें 'भिन्नरुचिर्हिलोकः' वाला-सिद्धान्त पद पद पर सत्य सिद्ध होता है। कहीं लोगों को कोई बात पसन्द आई है तो किसी को कोई। इसी भिन्न रुचि के कारण, आज हमें साहित्य के दो प्रधान आदर्श देखने में आ रहे हैं।

इसके पूर्व कि इस विषय पर आगे चलें, इतना और भी कह दें तो कुछ अनुचित न होगा कि साहित्योत्पादनी-भावना की उत्पत्ति में किसी अंश तक स्थान विशेष के जलवायु का भी प्रभाव अवश्य ही रहता है। यदि ऐसा न होता तो फिर क्या कारण है कि पूर्व और पश्चिम दोनों का साहित्यादर्श एक दूसरे से इतना दूर जा पड़ा है? पश्चिमी साहित्य, पूर्व का ही प्रसाद है इसके प्रमाण में प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् M. Louis Jacolliat (एम.लुइस जेकोलिट) का निम्न लिखित उद्‌गार देखिये Bible in India "भारत में बाइबिल" नामक पुस्तक में उसने लिखा है—

Soil of ancient India, cradle of humanity, hail! hail! venerable and efficient nurse whom centuries of brutal invas-

ions have not yet buried under the best of oblivion. Hail, Fatherland of faith, of love, of poetry and of science. May we hail a revival of the past in our western future अर्थात् "हे प्राचीन भारत-वसुन्धरा, मानव-जाति की आदिम-जननी, तेरी जय हो! तेरी जय हो!! मान्य एवं समर्थ धात्री, सदियों के क्रूर आक्रमण भी आज तेरे अस्तित्व को विस्मृति के गर्भ में विलीन नहीं कर सके। तेरी जय हो। धर्म, प्रेम, कविता तथा विज्ञान की तू मातृभूमि है। प्रतीच्य के भविष्यत् में तेरे अतीत की पुनरावृत्ति हो और हम उसका अभिनन्दन करें यही हमारी अभिलाषा है।" यद्यपि उक्त कथनानुसार यह बात स्पष्ट है कि पश्चिम में प्राच्य साहित्य की पुनरावृत्ति ही हो रही है किन्तु फिर भी आदर्श में अन्तर अवश्य हो गया है। और इस अन्तर का कारण है, जलवायु।

इस समय प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य में आदर्श-निर्माण की दृष्टि से रात दिन का अन्तर है। एक का ध्येय मनुष्य की आध्यात्मिक वृत्तियों को उन्नत करके उसे द्वन्द्वातीत आनन्दमय लोक में पहुँचा देने की चेष्टा में व्यस्त रहना है और दूसरे का ध्येय केवल भौतिक आनन्द "Eat drink & be marry" "खाओ, खेलो और खुश रहो" मात्र है।

अखिल उन्नत-जगत् आज भी इस बात को माने बैठा है कि वे साधन जो मनुष्य को आत्मोन्नति की ओर ले जाने में सहायक हो सकते हैं—उसकी

सद्वृत्तियों को विकसित कर सकते हैं—उन्हें अपनाना मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य होना चाहिये। और ऐसे साधन अथवा साधनों को जिनसे आत्मोन्नति में बाधा पहुँचे सर्वथा ह्येय और त्याज्य समझकर छोड़ देना चाहिये। मनुष्य को अपना वातावरण सदा उन्नत, शुद्ध और शान्तिमय रखना चाहिये। विचार, दृश्य और व्यवहार अर्थात् मन, वचन और कर्म से शुद्ध रहना ही मोक्ष का साधन है।

पूर्वीय आचार्यों ने मानवात्मा की सबसे नीचे वाली तह में प्रवेश करके मानव-मनोवृत्तियों का पूर्ण परिशीलन करने के पश्चात् अपने साहित्य का आदर्श नियत किया है। क्योंकि वे जानते थे यदि हमारे विचारों में पवित्रता नहीं रहेगी तो अवश्य ही हमारे वचन और कर्म भी, जो विचारों के ही प्रकाशमान् स्वरूप हैं, अहितकर तथा दूषित ही होंगे। अस्तु, उन्होंने साहित्य के आदर्श को आत्मोन्नति के मूल सिद्धान्तों पर निर्मित किया है।

संसार में वही वस्तु सुन्दर मानी जाती है जो किसी भी भाँति हितकर सिद्ध हो सके। और जो वस्तु अहितकर होती है, वह सदैव देखने में सुन्दर होते हुए भी असुन्दर की कोटि में ही स्थान पाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि सौंदर्य और असौंदर्य दोनों के संघर्ष का परिणाम ही अपनी २ रुचि के अनुसार साहित्यादर्श बन गया है।

साहित्य, विचारों का समूह ही तो है। तो फिर जैसा जिसका विचारादर्श होगा वैसा ही उसका

साहित्यादर्श बन सकेगा। और यही कारण है कि साहित्य को विचारों का परम्परागत इतिहास माना है।

प्राच्य और पाश्चात्य कवि दृष्टि।

प्राच्य-साहित्य-शास्त्रियों ने मनुष्य-स्वभाव का आदर्श बड़ा ऊँचा माना है आप देखते हैं—स्वभाव से मनुष्य शुद्ध और सात्विक वृत्ति का पुतला होता है। किन्तु परिस्थिति और रहन सहन के प्रभाव से पीछे से उसमें विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

पूर्वीय आचार्यों ने अपने साहित्य में मनुष्य का वह स्वभाव दिखलाया है जिससे संसार का कल्याण हो और उसके अनुगामी का श्रेयोमार्ग-निर्माण हो। इसका यह अर्थ कभी नहीं कि स्वभाव के दूसरे पक्ष अवगुण का अथवा असौंदर्य का उन्होंने कोई वर्णन ही नहीं किया, वर्णन किया है और खूब किया है, किन्तु इस प्रकार किया है कि सद्गुणों की आड़ में उसका आभासमात्र ही मिलकर विलीन हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि उसका चित्रण पाठक की मनोवृत्ति को अपनी ओर आकर्षित करने में प्रथम पक्ष की पटुतापूर्ण वर्णनशैली के सामने निर्बल-सा पड़ जाता है। अधिकांश मनोवृत्तियाँ आत्मसौंदर्य की लालसा में दुर्गुणों की अपेक्षा सद्गुणों की ओर ही आकृष्ट होना चाहती हैं। कारण, सभी अपने आपको अच्छे रूप में देखना चाहता है—बुरे में नहीं। यथा आदि कवि भगवान् वाल्मीकि की लेखनी से प्रसूत रामचरित्र में सभी राम या राम पक्ष का बनने की चेष्टा करेंगे, रावण या रावण पक्ष का बनने की नहीं। कदाचित्, आरम्भ में

कोई रावण के वैभव पर मुग्ध होकर रावण बनना भी पसन्द कर ले, किंतु, तब भी, जब रावण के उत्तर-जीवन की हीनता का दृश्य उसके सामने आवेगा वह अवश्य ही सदाचारी रहना, प्रभुता पाकर अभिमानान्ध न हो बैठना तथा परनारी पर कुदृष्टि न डालना आदि-आदि दुर्गुणों के प्रति घृणा-भाव से ही देखने लगेगा। यह है पूर्वी-साहित्य और यही है उसका सौंदर्य। और वास्तव में साहित्य-निर्माण का ध्येय भी ऐसा करने से ही सफल होता है। साहित्य में जीवन को उन्नत बनाने की क्षमता तभी आ सकती है जब कि उसका आदर्श उक्त-दृष्टिकोण को लेकर स्थिर किया गया हो। अन्यथा नहीं।

किन्तु पश्चिम, केवल इस आधार पर कि मनुष्य स्वभाव अधिकांश में स्वभाव से ही बुराइयों की ओर झुकता है, अपने साहित्य के आदर्श को अन्य रूप में चित्रित करके प्राच्य-साहित्य के आदर्श से कोसों दूर ले जाता है। यद्यपि पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों ने भी स्वभाव का बहुत ही ऊँचा और सच्चा तथा सजीव चित्रण किया है, किन्तु फिर भी उनका चित्रण आत्मोन्नति का मार्ग-निर्माण करने में नितान्त असमर्थ सिद्ध हुआ है। और इसी कारण साहित्य के इस ध्येय की कि साहित्य, संसार की उन्नति का मार्ग निर्माण कर सकता है, पूर्ति नहीं कर पाता।

पश्चिम स्वभाव-चित्रण-कला में कहाँ तक सफल हुआ है ? इस प्रश्न का उत्तर, नाट्य-सम्राट् शेक्सपियर की कुशल लेखनी से प्रसूत विभिन्न नाटकों

का एक एक अक्षर स्पष्ट रूप से दे रहा है। आज का सभ्य-संसार एक मत से यह मानने को तैयार है कि शेक्सपियर मानव प्रकृति के परीक्षण और चित्रण में अपने ढंग का एक ही कुशल शिल्पी था। इस का प्रमाण है एक समालोचक का यह वाक्य—"O Nature ! O Shakspeare ? which of ye drew from the other!" अर्थात् हे प्रकृति ! हे शेक्सपियर ! तुम दोनों में कौन किसका प्रतिबिम्ब हो ! बात सच है शेक्सपियर ने मानव प्रकृति का तत्तुल्य चित्र खींचने में कलम तोड़ दी है। किन्तु इस का यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि पूर्व-प्राङ्गण में कभी कोई ऐसा प्रकृति-चित्रण करनेवाला कवि हुआ ही नहीं। देखिये पश्चिम के विशाल-साहित्य-क्षेत्र से कितने ज़ोर की आवाज़ आ रही है। प्रोफ़ेसर हैरीन पुकार पुकारकर कह रहे हैं—"Shakuntla by Kalidas is incomparable for its beauty and fidelity to nature and stands at the head of the Dramatic Literature of all nations. "अर्थात् कालिदासकृत अभिज्ञान शाकुन्तल प्राकृतिक वर्णन और नैसर्गिक भाव-सौंदर्य के सजीव चित्रण में संसार की समस्त जातियों के नाट्य-साहित्य में सर्व श्रेष्ठ है।" इतना ही नहीं और सुनिये, प्रोफ़ेसर विलसन् क्या कह रहे हैं—"Shakuntla by Kalidas is one of the loveliest pieces in dramatic literature of the world ! अर्थात्—"कालिदास का शकुन्तला

नाटक अखिल संसार के नाट्यसाहित्य में एक अत्यन्त मनोहर कृति है।"

इन उद्धरणों से यह तो भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि पूर्व का स्वभाव-चित्रण किसी भाँति भी पश्चिम से कम नहीं। अब विचार केवल इतना ही करना है कि—"कवि संसार का शिक्षक है" इस दृष्टि से साहित्य का आदर्श क्या होना चाहिये? और प्राच्य तथा पाश्चात्य दोनों दलों में से किस दल का आदर्श वांछनीय और अनुकरणीय है?

इसमें सन्देह नहीं पश्चिम का यह अनुमान कि जन समाज की प्रवृत्ति सद्गुण तथा पवित्र भावनाओं की अपेक्षा दुर्गुण और दुर्भावनाओं की ओर ही विशेष रूप में अधिक होती है, उनके मानव प्रकृतिज्ञान का पूर्ण परिचायक है। मानव प्रकृति का पूर्ण परिशीलन करने के पश्चात् ही वे इस निर्णय पर पहुँचे थे। किन्तु अब प्रश्न होता है कि एक ऐसे व्यक्ति का, जो साहित्य-क्षेत्र में कवि के नाते खड़ा होता है, या जिस पर कलाकार के नाते साहित्य-निर्माण का दायित्व है, एक शिक्षक की हैसियत से क्या कर्तव्य है?

जब कवि का कार्य लोक शिक्षक के रूप में है तो यह निर्विवाद है कि उसे ऐसे साधन जुटाने चाहियें जिन से वह समाज के दोषों को कम कर सकने में समर्थ हो। यदि वह ऐसा नहीं कर सकता तो इसका यह अर्थ हो जाता है कि वह अपने उद्देश्य की पूर्ति

में सफल नहीं हो सका। बस, यहीं से वह स्थान आरम्भ हो जाता है, जहाँ प्राच्य और पाश्चात्य दोनों दल एक दूसरे से भिन्न २ दिशाओं की ओर मुड़ जाते हैं।

पाश्चात्य कविगण जिस सृष्टि का निर्माण करते हैं, प्राच्य कविगण उससे भिन्न किसी दूसरी ही सृष्टि का चित्र देखते हैं। यदि प्रथम समुदाय ने मनुष्य समाज को रजोगुण और तमोगुण का वाह्य रमणीय स्वरूप दिखाया है तो दूसरे ने सत्वगुण के दिव्य अनादि सौन्दर्य का चित्राङ्कण करके उसकी सूक्ष्म अनुभूति के लिये अखिल-संसार को आह्वान किया है। सात्विक-संसार किस प्रकार सुख-सागर है, समाज का उसके अपनाने में कहाँ तक भला हो सकता है, मनुष्य का चरम-लक्ष्य क्या है ? आदि प्रश्नों का पूर्ण उत्तर देना ही दूसरे समूह के कवि-गणों का प्रधान कार्य है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यदि पहिले समूह ने आसुरी-सृष्टि पर इसे विस्मय-विमुग्ध बना डाला है तो दूसरे-दल ने दैवी सृष्टि के दिव्य रूप का दर्शन कराया है।

शेक्सपियर ने अपनी रचनाओं में आसुरी-प्रवृत्ति को ही स्थान देकर दुःखलीला दिखाते हुए घोर नरक की सृष्टि कर डाली है। लेडी मैकबेथ, लार्ड मैक-बैथ रोमियो और जूलियट, ब्रूटस और रिचर्ड * आदि उनकी अमानुषिक एवं नारकीय सृष्टि के साधन हैं। जो कठोरता, जो विश्वासघात जो नीच

*शेक्सपियर के नाटकों के कतिपय प्रधान पात्र।

मनोवृत्ति जो निर्दय भावना राक्षसीवृत्ति की विभूतियाँ हैं वे ही सब शेक्सपियर के इन उपरोक्त पात्रों की आत्मा में अन्तर्हित हैं। जो समाज कवि को अपना रहनुमा मानकर उसके पीछे चलता है—हम नहीं समझते शेक्सपियर के नैसर्गिक स्वभाव-चित्रण का अनुसरण करता हुआ वह कहाँ और कौन से गर्त्त में पहुँचकर विश्राम लेगा। क्योंकि सुन्दरी जूलियट का आसुरी प्रेम-प्रदर्शन, लेडी मैकबेथ का विश्वासघात तो आत्मोन्नति की दृष्टि से सर्वथा अयोग्य साहित्य की श्रेणी के विषय हैं। यद्यपि ऐसे स्वभाव और चरित्र पूर्वी-साहित्य में भी देखने को बहुत मिलते हैं। किन्तु कवि ने उन्हें देवत्व की दिव्य छटा में ऐसा स्वरूप दे दिया है जिससे पाठक की मनोवृत्ति उनके चरित्र की ओर आकृष्ट न होकर उस दैवी वृत्ति की ओर ही खिंचती है जिसकी पवित्रता में वह आसुरी अपवित्रता विलीन हो जाती है और यही कारण है कि व्यास-वाल्मीकि आदि स्वर्गीय-सृष्टि के स्रष्टा माने जाते हैं। उदाहरणार्थ पूर्वी-साहित्य की आसुरी-प्रवृत्ति के साधन रावणादि को ले लीजिये। रावण का घोर कर्म क्या कम कठोर और घृणित था। जिसने अनेकों ऋषियों को मारकर दण्डकारण्य को ऋषि-अस्थियों का कानन बना दिया था। किन्तु राम के दिव्य-जीवन के साथ-साथ समाज के सामने उपस्थित होने के कारण प्रत्येक मनुष्य को यह ज्ञात हो गया कि राम की तुलना में रावण कितना हेय और निन्द्य था। कहने

का तात्पर्य यही है कि पश्चिमी-साहित्य में ईश्वरीय-सत्ता का सर्वथा लोप है—उदाहरणार्थ आप मिल्टन के महाकाव्य को ले लें। इतना बड़ा ग्रन्थ है पर उसमें आसुरी सत्ता के सामने ईश्वरीय सत्ता का लेश भी नहीं दिखाई पड़ता।

यहाँ तक हुई प्राच्य और पाश्चात्य कवि-दृष्टि की समालोचना। अब हमें थोड़ा-सा प्रकाश समाज और उसका साहित्य से सम्बन्ध इस प्रश्न पर भी डालना है। कवि अतीत की ओट से, झीने पर्दे की आड़ में छुपे हुए व्यक्ति की भाँति अपनी कृति के गर्भ में बैठा सदा एक आदर्श-व्यक्ति के समान पाठक के हृदय पर पड़नेवाले प्रभाव के साक्षी का कार्य किया करता है। अस्तु, कवि का कार्य बहुत सोच-समझकर क़लम उठाने का है। आसुरी मनोवृत्ति का चित्र खींचना कोई ऐसी मुश्किल बात नहीं—उसका तो चलता-फिरता चित्र स्वयम् संसार ही है। कठिन तो है दैवी मनोवृत्ति का चित्र चित्रित करना जिसे देखकर संसार अपने श्रेय का मार्ग निश्चित कर सके।

प्राच्य-पंडितों ने इसी कारण अपने साहित्य को दैवी विभूति का आगार बनाया है। साहित्य ही वह वस्तु है जो भविष्य को अतीत की झलक दिखाकर अतीत को भविष्य में ला देता है। यदि साहित्य का यह कार्य नहीं होता तो आज संसार में उसका महत्व इतिहास से बढ़कर कभी नहीं हुआ होता। इसका एक कारण और है, साहित्य अखिल-मनुष्य-समुदाय का कवि के हृदय-रस में रँगा हुआ चित्र है। इसी

कारण वह संसार को चाहे जिस ओर ले जा सकने में इतिहास की अपेक्षा अधिक प्रबल है। और यही कारण है कि साहित्य का आदर्श स्थापित करते समय बहुत ही सोचने समझने की आवश्यकता होती है। आदर्श साहित्य की सृष्टि एक साधारण कार्य नहीं है—इस कार्य का सुचारु रूपेण सम्पन्न करना मानवेतर व्यक्ति अर्थात् दैवी शक्ति से सम्पन्न ऋषि, महर्षिगण ही कर सकते हैं। भारत में यह कार्य ऐसी ही आत्माओं द्वारा सम्पादित हुआ है जिनमें ईश्वरीय सत्ता का अधिक प्रकाश था और यही कारण है कि प्राच्य-साहित्य संसार के सामने आज भी आदर्श-साहित्य ही माना जाता है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि साहित्य का उद्देश्य उसके आदर्श और सौंदर्य पर निर्भर रहता है। आदर्श-समाज की स्थापना के लिये, शुद्ध-साहित्य के निर्माण की आवश्यकता है। वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य की निर्माण-शैली अधिकांश पाश्चात्य ढंग पर चल रही है जिसका अन्तिम परिणाम मेरे विचार में हितकर नहीं कहा जा सकता। उज्ज्वल चरित्र की उसमें दिन पर दिन कमी होती जा रही है। स्वभाव के पीछे पड़े हुए पाश्चात्य-ढंग के विद्वान्गण उसमें उसी आसुरी-वृत्ति और दुःख लीला को स्थान देते जा रहे हैं।

आदर्श-साहित्य का उद्देश्य मुख्यतः आदर्श-समाज की स्थापना करना ही है और आदर्श-समाज-स्थापना का अर्थ दैवी-सृष्टि से है, दानवी सृष्टि से नहीं। वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य जिस सृष्टि का निर्माण कर

रहा है—वह सात्विकी-सृष्टि नहीं कही जा सकती। अस्तु, हमें अत्यन्त सतर्क होकर साहित्य-निर्माण की ओर अग्रसर होना चाहिये। जिस भाँति शेक्सपियर आदि पाश्चात्य तथा व्यास, बाल्मीकि इत्यादि प्राच्य पंडितों द्वारा निर्मित समाज आज हमारे सामने है उसी भाँति आज का समाज भविष्यत् में लोगों के सामने आने वाला है। अतः भावी समाज के निर्माण में ऐसे साधन काम में लाये जायँ जिनसे व्यासादि महाकवियों की दैवी-सृष्टि का सुन्दर दृश्य सहसा अलक्ष्य न हो जाय।

साहित्य ऐसा हो जिसमें सारी मानव-प्रकृतियाँ और चित्त-वृत्तियाँ स्थान पाते हुए भी सात्विकी-वृत्ति की अन्तर प्रेरणा का अलक्ष्य तथा अविकल कार्य मन्द न पड़े। प्राच्य-साहित्य ने इसी बात को सिद्ध कर दिखाने के कारण विश्व-साहित्य में ऊँचा आसन प्राप्त कर लिया है अतएव साहित्यकारों से मेरा नम्र-निवेदन यही है कि उन्हें साहित्य-निर्माण से पूर्व अपना आदर्श और उद्देश्य सोचकर नियत कर लेना चाहिये और तब लेखनी उठानी चाहिये।

नोट—इस लेख को लिखने का विचार मेरे हृदय में रवींद्रबाबू के एक बँगला ग्रंथ को पढ़ने के पश्चात् ही उत्पन्न हुआ था। मैं उनका आभारी हूँ।—लेखक



नाटक की मनोवैज्ञानिकता

नाटक काव्य, संगीत और चित्रकलाओं का केन्द्र है

कला मानव-हृदय का विकास है।

कला* कलाकार की अन्तरात्मा का सौंदर्य और मस्तिष्क का उपयोगी विकार है।

किसी भी कला का मानव-हृदय से अभिन्न सम्बन्ध होता है। कला हृत्तन्त्री के प्रत्येक स्वर को स्फूर्ति देती है। हृदय में उल्लास के अलक्ष्य-प्रकाश की अनुभूति कराना ही कला का काम है। कला का सौंदर्य मानव-हृदय का प्रतिबिम्ब है। इसी कारण आचार्यों ने कला की परिभाषा, उपयोगिता और सौंदर्य का साधन बतला कर की है।

मानव-जाति की उत्पत्ति का इतिहास ही कला—नहीं २ नाट्यकला की उत्पत्ति की कहानी है।

भारत देश मानवीय-संस्कृति (Human culture) तथा कला की आदिम भूमि है। इस विषय में समस्त संसार एकमत है। सभ्यता की प्रथम रश्मि इसी पुण्य-भूमि में फूटी है। जब संसार अपनी बाल्यावस्था में था तभी भारत में विकास-तत्त्व का प्रभाव प्रत्यक्ष हो चला था। लोग, आनन्द क्या वस्तु है? संसार क्या है? मनुष्य का संसार से क्या सम्बन्ध है आदि गूढ़ प्रश्नों की समीक्षा में संलग्न रहने लग गये थे।

विकास का सच्चा अर्थ है द्वन्द्व, द्वेष और वैषम्य। क्यों? विकास के साथ तो शान्ति, प्रेम और साम्य का मेल होता है, फिर यह उलटा भाव कैसा! सच

---

*An artist's personality is involved in his work.

है, परन्तु विकास शब्द ही किसी वस्तु को—जो उपस्थित है—हटाकर आनेवाले—वैभव का सूचक है। विकास का अर्थ थोड़ी देर के लिये बुद्धि से ले लीजिये। अक़्ल आने पर मनुष्य में युद्ध, विजय, वैभव और आनन्द सभी दुष्प्राप्य वस्तुओं की कामना होगी। बस, यह कामना ही अपनी पूर्ति की बाधक त्रुटि को हटाने के लिये सरल-हृदय मनुष्य को अकाण्डताण्डव के लिये बाध्य कर देती है इसीलिये हमने विकास को द्वन्द्व का जनक कहा है।

भारतवर्ष में यह सभ्यता का आदिम - युग इसी तरह का बीता है। यहाँ की प्राचीन जातियों† में इस समय एक प्रकार का संघर्ष चल पड़ा था। इसी संघर्ष का फल नाट्यकला का जन्म है।

एक बार जब मानव-जाति के अत्यन्त अधःपतन पर करुणार्द्र होकर देव-जाति ने अपने प्रधान इन्द्र के द्वारा परम विज्ञानी ब्रह्मा से इस अशान्ति के लिये शिकायत करते हुए शान्ति स्थापना की प्रार्थना करवाई। तब ब्रह्मा ने एक ऐसी कला का आविर्भाव करना चाहा जो समस्त जातियों पर एक-सा प्रभाव डाल सकने में समर्थ हो सके।

ब्रह्मा के इस विचार का फल हुआ सार्ववर्णिक पंचम वेद[1] 'नाट्यवेद[2]' की रचना।

---

† देव, दानव, यक्ष, गंधर्व, नाग और मानव जाति के लोग इस समय भारत में बसे हुए थे।

नाट्यशास्त्र प्रथमोध्यायः—

१. तस्मात्सृजापरं वेदंपञ्चमं सार्ववर्णिकम्।

२. नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्ग संभवम्।

यह सब क्या हुआ ? केवल मनोविज्ञान का ऊँचा अध्ययन। ब्रह्मा से बढ़कर दूसरा आत्मविज्ञानी कौन होगा ? उसने सोचा कि स्वभाव जिस वस्तु का नाम है वह लगभग एक से ही समय में एक सा ही वातावरण पाकर एक से ही प्रकार से बनता, विकास पाता और कार्यरूप में परिणत होता है। इसलिये शुभाशुभ कर्म और भावनाओं का मिश्रित प्रदर्शन जिस प्रकार संसार के सामने उपस्थित हो सके ऐसा कोई साधन सोचा जाय तभी हित हो सकता है। ब्रह्मा का यह विचार नाट्यकला के स्वरूप में भावों के (मानसिक, शाब्दिक और कार्मण) प्रदर्शन का प्रकार बनकर उपस्थित हुआ। यह नाट्यकला समय-समय पर काल-क्रम के अनुसार बदलती-सुधरती रही। धीरे-धीरे इसने कई प्रकार बदले। किन्तु कहने का तात्पर्य इतना ही है कि संसार के मस्तिष्क में एक भारी उथल-पुथल मचाने का सीधा साधन ब्रह्मा ने नाट्यकला को ही उचित पाया। प्रबल विचार-धारा का वेगवान् प्रवाह रोक देने की शक्ति इसी कला में पाई।

नाटक के तत्व वैदिक साहित्य में सन्निहित हैं।

इस प्रकार जिस नाटक का सूत्रपात होता है उसके तीन प्रधान तत्त्व हैं। कथोपकथन, नृत्य और संगीत। नाट्य-वेद की रचना चतुर्वेदाङ्ग-संभव है। इसमें ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्वण से रस का समावेश किया गया है। जहाँ यह तीन तत्त्व मिलते हैं नाटक का स्वरूप (ढाँचा) खड़ा हो जाता है। रस तो इन तीनों के सफल संमिश्रण का फल है।

नाटक मानव मस्तिष्क के विकारों का प्रदर्शन है।

नाटक का विषय मनोविज्ञान से अभिन्न सम्बन्ध रखता है। मानव-मस्तिष्क की परिवर्त्तनशील गति-विधि की पर्यालोचना का नाम ही नाटक है। नाटक-काव्य के दृश्य भेद में परिगणित होने के कारण काव्य का मूर्त्त स्वरूप होता है।

किसी भी वस्तु का प्रदर्शन उसके स्वरूप के सम्यक्-ज्ञान का द्योतक होता है। सम्यक्ज्ञान अपेक्षा रखता है तत्वस्तु विषयक—जिसका स्वरूपज्ञान कराना है— रूपक-व्यवस्था[1] की। अर्थात् प्रदर्शनीय वस्तु के अनुरूप रूप-निर्माण की कला ही नाटककला है।

मनोविज्ञान के पाठक जान सकते हैं कि बालक के हृदय या ज्ञानकोष का विकास किन २ साधनों से होता है। सर्वप्रथम बालक दृश्य-जगत् के पदार्थों को देखकर एक प्रकार का विस्मय करता है। उसके ज्ञानतन्तु परिपक्व न होने के कारण वस्तु-निर्णय नहीं कर पाते। परन्तु वह तत्त्व जो हृदय और शरीर को इतना महत्त्व देता है अवश्य अपने अविकसित स्वरूप में हृदय और मस्तिष्क में सन्निहित रहता है। बस इसीलिये बालक ने जहाँ कोई पदार्थ देखा नहीं कि अनुकरण वृत्ति ने अपना काम आरंभ किया नहीं।

सर्वप्रथम बालक का विकास अनुकरण वृत्ति के विकास से होता है। और फिर जीवनपर्यन्त यह अनुकरणवृत्ति उसके स्वभाव के स्वरूप में

---

१. रूपारोपात्तुरूपकम्—नाट्यशास्त्र

प्रौढ़, उन्नत और मनोहर बनकर मनुष्यत्व की रक्षा करती रहती है। इसी अनुकरण वृत्ति का परम विकास है नाटक या अभिनय। ब्रह्मा का उद्देश्य नाटक के द्वारा मनुष्य की अनुकरण-वृत्ति का 'बाल्य' छुड़ाकर उसमें विचार का प्रौढ़त्त्व स्थापन करना था।

नाटक समाज का चित्रण* है। सामाजिकों का भाव अपना ही चित्र देखकर सहज ही में क्यों बदल जाया करता है. इसका सबसे प्रधान कारण है आत्मानुभव। एक मनुष्य जिसके मुख पर असावधानी के कारण कालिमा पुत गई-- और उसे ज्ञात नहीं—उसे कभी नहीं हटा सकता जब तक उसे बतलाया न जाय। और बतलाने पर भी उस समय तक कहीं न कहीं वह कालिमा रह ही जायगी, जब तक वह दर्पण सामने रखकर उसकी भयङ्करता का और अपने भद्दे-पन का अनुभव खुद न कर ले एवं अपनी असावधानी पर न पछता ले। हाँ, दर्पण में अपने कलुषित चहरे को एक बार भी देख लेने पर वह ज़रा सा भी कालिमांश चहरे पर नहीं छोड़ेगा, तुरन्त उसे हटा देगा और अपने चहरे के उस कालिमा-कलुषित भौंडेपन को सदा हृदय में सुरक्षित रखकर भविष्यत्

---

*The stage plays a prominent part in the growth of a country. It is not merely a form of re-creation; but a thing on which much of a National, Social, Intellectual & Moral culture depends.—

में फिर कभी ऐसी असावाधनी न करेगा जिसमें उसे फिर वैसा ही भौंडा वेश बनाना पड़े। ठीक इसी प्रकार नाटक या अभिनय के आदर्श (दर्पण) में सामाजिक, समाज के कुत्सित्—वेष को देखकर उसे सुधारने में सचेष्ट हो जाता है। और उसके सौंदर्य को देखकर उसके अधिकाधिकविकास का साधन ढूँढ़ने लगता है। यह है नाटक का प्रत्यक्ष प्रभाव।

नाटक मनःस्थिति पर गहरा और सीधा प्रभाव डालता है।

काव्य यदि दो हृदयों की अभिन्नता का नाम है तो दृश्यकाव्य (नाटक) दो हृदयों की अभिन्नता का तीसरे हृदय पर या विश्व-हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव का।

भाव जो अत्यन्त सूक्ष्म, कोमल और कठिनता से अनुभव किया जाने वाला तत्त्व है, हृदय का विषय है। हृदय से शब्दों में आकर फिर हृदय पर पहुँचने में उसका स्वरूप कुछ खण्डित हो ही जाता है। शब्द तो उसके वाहक मात्र रहें, यहीं तक शब्दों का उपयोग उचित है। श्रव्य-काव्य में यही त्रुटि आती है कि वहाँ शब्दों ही को भावों का आधार बन जाना पड़ता है। परन्तु नाटक (दृश्य-काव्य) में कवि का हृगद्‌त-भाव शब्दों की नलिका द्वारा नट के हृदय में आकर फिर अपनी कमी को पूरा कर लेता है, और फिर कुछ तो सात्विक अभिनय द्वारा ज्यों के त्यों नट के हृदय से सामाजिक के हृदय के मूक मिलन के स्वरूप में कुछ इङ्गित-चेष्टादि कायिक अभिनयों द्वारा और कुछ कथोपकथन (शब्दों) द्वारा पूर्ण रूप से दृष्टा के हृदय में जा पहुँचता है। नाटक

में शब्दों के सहारे दूसरे हृदय तक जाने में भावों में जो निर्बलता आती है उसे आहार्य-अभिनय और चित्रपटी-व्यवस्था पूर्ण कर देती है।

मस्तिष्क के तन्तु निस्तब्ध नहीं रहते। उन्हें एक व्यापार में लगाना ही ध्यान कहलाता है। और ध्यान की मस्ती ही आनन्द या 'रस' है।

मस्तिष्क निरन्तर क्रिया-व्याप्त रहता है। उसके ज्ञानतंतु जब कभी तनिक भी विश्राम पाते हैं, शरीर और मन असीम आनन्द का अनुभव करते हैं।

ज्ञान-तन्तुओं की विश्रामावस्था या तो घोर निद्रा कही जा सकती है और या आनन्दावस्था। आनन्दास्वादन का सर्वश्रेष्ठ साधन है काव्य, और काव्य में भी उसका दृश्य-रूप। क्योंकि श्रव्य-काव्य में शब्द रूप में उपस्थित भावना का प्रत्यक्षीकरण मस्तिष्क को स्वयं करना पड़ता है। जहाँ आपने कोई उपन्यास, कहानी या कथा पढ़ना आरंभ किया कि उसमें वर्णित शब्द चित्र की मस्तिष्क दृश्य-कल्पना करना आरंभ कर देगा। ऐसा करने में ज्ञान-तन्तुओं को द्विगुण श्रम उठाना पड़ेगा। एक पाठन का और दूसरा दृश्य-कल्पना का। परन्तु दृश्य काव्य में न तो उसको पढ़ाना पड़ता है और न दृश्य-कल्पना का कठिन कार्य ही करना पड़ता, दृश्य-काव्य में तो उसे केवल देखने का कार्य ही रहता है। शेष सारे व्यापार स्वयं उपस्थित होते रहते हैं। ऐसी दशा में ज्ञान-तन्तुओं को एक अजीब विश्राम-सा मिलता है वह दृश्य के देखने में और आनन्द में तल्लीन हो जाता है। बस यही हृदय या मस्तिष्क की रसावस्था है।

नाटक समय के अन्तर को

नाटक जिस वस्तु का नाम है, वह है मनुष्यों के विभिन्न कृत्यों की कहानी का प्रत्यक्ष प्रदर्शन या मर्त्त स्व-

दूर कर, हमें किसी भी काल का बना दे सकता है। क्योंकि नाटक में आत्मा पर जादू कर देने कैसी शक्ति है।

रूप। नाटक भूत और भविष्यत् को वर्त्तमान से मिलाने का साधन है। एक पत्नी-व्रती राम, चक्रधर योगेश्वर श्रीकृष्ण, विश्व-बंधु बुद्ध और विज्योन्मत्त ऐलग्जैन्डर तथा प्रयास-पटु नेपोलियन यद्यपि हमसे दूर हो गये हैं परन्तु अभिनय-क्षेत्र में वे आज भी हमारे सन्निकट आ-कर अपने प्रभाव से आत्मा को अभिभावित कर देते हैं।

इसी विभिन्न कृत्यों की कहानी को वस्तु कहते हैं। वस्तु का विभागक्रम भी मनोविज्ञान के उन सूक्ष्म-सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है कि जिनसे हृदय के उद्‌बोधन और विकास का सम्बन्ध है।

वस्तु की दो सीमाएँ हैं 'बीज' और 'कार्य'। और उसका मध्य भावना - उत्कर्ष की दृष्टि से 'बिन्दु', 'पताका', 'प्रकरी' तीन विभागों में बाँटा गया है।

'बीज' का सम्बन्ध है भावोद्भव से। और 'बिन्दु' का भाव के अंकुरित स्वरूप से। इसी प्रकार 'पताका' और 'प्रकरी' का सम्बन्ध उद्दीपन विभावों से है। 'पताका' और 'प्रकरी' प्रधान वस्तु को अग्रेसर करने के साधन हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि बीजस्वरूप भाव को कार्यरूप रसावस्था तक पहुँचाने के लिये 'पताका' 'प्रकरी' साधन हैं।

'बीज', 'बिन्दु', 'पताका' और 'प्रकरी' वस्तु को आदि से अन्त तक हृदय के अनुकूल रखने के विकासक साधन हैं। और नाट्य-शास्त्र में इन्हें 'अर्थ-प्रकृति' (Elements of plot) कहते हैं।

नान्दी और प्रस्तावना चि-

द्रष्टाओं का हृदय विभिन्न विचारों का क्रीडास्थल होता है। जब तक चित्त एकाग्र न हो, सामने उप-

त्ताकर्षण या आत्मनियंत्रण के साधन हैं।

स्थित वस्तु का भी ज्ञान असंभव हो जाता है। इसीलिये नाटक में 'वस्तु' की ओर द्रष्टाओं के हृदय को आकर्षित करने के लिये सर्वप्रथम नान्दी-पाठ होता है। नान्दी-पाठ से सारी रङ्गभूमि का हल्ला गुल्ला शान्त हो जाता है। धीरे-धीरे द्रष्टाओं की चित्तवृत्ति सांसारिक अकाण्डताण्डव की ओर से हटकर नाटक की ओर लगती है। इसी अवसर में प्रस्तावना आरंभ हो जाती है। नाटक का सार-विषय सुनाकर दर्शकों का मन मुग्ध कर लिया जाता है। तब कहीं मुख्य खेल सामने आता है। कहने का तात्पर्य है, नाटक के पूर्व साधन और उसके संचालन-नियम सभी मन और हृदय पर दर्शनीय वस्तु का दर्शकों पर अधिक से अधिक प्रभाव डाले जाने के उपाय हैं। 'वस्तु' को अधिक उपयोगी और रोचक बनाने के इन साधनों के नाम हैं—नान्दी (choricsong), प्रस्तावना (Prologue , अङ्क (Episode) और उपसंहार (Exode)।

रंग-मंच समाज का चित्र-पट है।

हमें यद्यपि नाट्यशास्त्र का इतिहास नहीं देना है; परन्तु यह अवश्य बतलाना है कि वर्तमान हिन्दी-मंच की आज कल क्या दशा है! नाटक जिसका इतना ऊँचा उद्देश्य है, यदि मञ्चोपयोगी न रखा जाकर केवल पढ़ने के उद्देश्य से ही लिखा जावे तो उसका नाटक रूप में लिखा जाना हमारे विचार में सर्वथा भूल है। क्योंकि पढ़ने के लिये तो उपन्यास ही बहुत हैं फिर केवल नाटक के ढंग पर उपन्यास की-सी बातें लिखने से नाटक की क्या प्रमुखता रह

जाती है ! चरित्रचित्रण जो नाटक की प्रधान वस्तु है पात्रों के व्यापार के स्वरूप में जब तक देखने को न मिले द्रष्टाओं के सामने नाटक नाम का कोई मूल्य नहीं। बल्कि ऐसी रचना तो नाटक नहीं, नाटक की शैली पर लिखा हुआ उपन्यास ही कहलावेगा।

रंग-प्रबंधक की मनोवृत्ति का नाटक लेखक की मनोवृत्ति से जहाँ मनोरम साम्य हो सकता है वहीं नाटक का शुद्ध स्वरूप देखने को मिल सकता है।

नाटक के पात्रों के चरित्रचित्रण, नाटक की वस्तु का प्रवाह, नाटक में संघर्ष मूलक घटनाओं का समावेश, उसकी भाषा और उद्देश्य तो रखते हैं नाटककार से सम्बन्ध और उसका दृश्य-संगठन तथा मंच पर उसके संचालन की दक्षता का सम्बन्ध है रंग-प्रबंधक से। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि नाटककार को जब तक रंग-प्रबंध का ज्ञान नहीं, वह—कम-से-कम—नाटक के रचना-प्रबंध को मंचोपयोगी नहीं बना सकता।

आज कल के नाटक लेखक 'साहित्यिक नाटक' का ढोल पीट २ कर नाटक की अन्त्येष्ठि करने में व्यस्त हैं। अच्छा होता ऐसे लोग उपन्यास लिखने की कोशिश करते।

हमें याद है हमने एक बार किसी पुस्तक में पढ़ा था कि साहित्यिक नाटकों में जो गायन कठिन हों, रंग-प्रबंधक उन्हें निकाल सकता है और लोक रुचि के अनुसार दूसरे गायन चुन कर रख सकता है।

हम पूछते हैं, वह नाटककार ही क्या जो लोकरुचि का अनुभव नहीं कर सकता। फिर क्यों न रंग-प्रबंधक पर ही नाटक लेखन का भार भी डाल दिया जाय।

हमने इस निबन्ध के आरंभ में ही बतलाया है कि नाटक हार्दिक भावों को मूर्त्तरूप में प्रकाशित करने का साधन है। श्रव्य-काव्य से नाटक में यही विशेषता है। ऐसी दशा में यह सिद्ध होता है कि नाट्य-नियम वे नियम हैं, जिनके द्वारा काव्य का भाव सामाजिकों पर प्रत्यक्ष रूप में प्रकट किया जा सकता है। इतने बड़े वैज्ञानिक-सिद्धान्त का केवल रंग-नियम न जानने के कारण जो लोग साहित्यिक नाटक लिख ∗ कर सर्वनाश कर रहे हैं वे कहाँ तक उचित मार्ग पर हैं, यह उत्तर समय ही दे सकेगा।

साहित्यिक नाटकों से मुझे कोई आपत्ति नहीं, यदि वे मंच पर भी खेले जा सकें। साहित्य या काव्य का पहिला सौष्ठव है 'प्रसादगुण'। और 'प्रसादगुण' का अर्थ है शब्दों का ऐसा संगठन जिसके सुनते ही हृदय में भावों का चित्र-सा खिंच जाय। परन्तु वर्तमान साहित्यिकता का अर्थ इसके विरुद्ध विडम्बना-पूर्ण-कर्कश एवं जटिल शब्द रचना से लिया जा रहा है। केवल इस कर्कश साहित्यिकता के लिये मनोवैज्ञानिक रंग-नियमों का अनादर किया जाना किसे रुचिकर होगा, आज दूसरे देशों के मंचों को तो देखिये !

इतना ही नहीं दूसरी ओर रंग-प्रबंधकों की

दुनियाँ में भी अन्धकारमयता का ही स्वराज्य है। वे लोग भी नाटक प्रदर्शन के महत्व को भूल से ही गये हैं। परन्तु इसमें भी दोष उन्हीं लोगों का है जो नाटक लेखन का दायित्व पूर्ण कार्य उठाये हुए हैं। वे लोग यदि स्वयं मंच के विषय में कुछ टूटाफूटा ज्ञान रखते हों तो ऐसी मनमानी रंग-व्यवस्था कभी न हो सके। अस्तु, हमारा विचार है कि एक नाट्य-कार उस समय तक कुशल नहीं कहा जा सकता, या उस समय तक उसे नाटक लिखने का कोई अधिकार नहीं जबतक उसे-नाटक के नियम, विभाग, वृत्ति, संधि, अलंकार, उसकी व्यवस्था करने वाले, तौरिय, वेषधर, चित्रज्ञ, माल्यकृत्, आभरणकृत्, मुकुटकृत्, तथा कथावस्तु के उत्कर्षक अर्थप्रकृति आदि जिनका मंच से ही मुख्य सम्बन्ध है, ज्ञान न हो. एक मोटी बात है, जिन वस्तुओं का वह उपयोग नहीं जानता उनका अन्ध-वर्णन नाटक में क्योंकर उचित रूप से कर सकता है। पाठ्य-नाटक लिखनेवालों से ज़रा पूछा जाय, यदि वे इन सबका उपयोग जानते हैं तो फिर उनके नाटक मंच पर क्यों नहीं खेले जा सकते हैं; और यदि उन्हें केवल लिखने से ही काम है—चाहे कुछ ही लिखें—तो फिर उस कृति को नाटक नाम क्यों देते हैं?

एक नाटककार का कर्तव्य होता है कि वह नाटक की रंग-व्यवस्था को ध्यान में रखकर ही—'नाटक' जिस रचना का नाम वह रखना चाहता है—उसके लिये लेखनी उठावे।

आज पश्चिम में भी यह विवाद चल रहा है। परंतु अधिकांश लोग नाटक की उपादेयता मंचोपयोगी होने पर ही मान रहे हैं। ऐसे लोग उँगलियों पर गिनने लायक़ होंगे जो पाठ्य-नाटक की भी कुछ सत्ता मानते हों। इसका कारण यह है कि 'नाटक' जिस कला का सूचन करता है वह है भावना-चित्रण कला। ज़रा विचारने की बात है, एक इतना कठिन एवं सूक्ष्मतर काम जिस साधन से सम्पन्न होता है, उसकी इतनी लापरवाही ! और फिर इतना ही नहीं उसकी उपयोगिता पर कोई विचार न करते हुए उसकी खिल्ली उड़ाना। हमारे विचार में सरासर भारत की आदिम-विभूति पर लात मारने के सिवा कुछ भी नहीं।

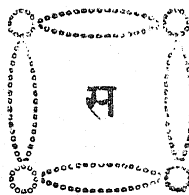
आज यदि हिन्दी-मंच की स्थापना वाञ्छनीय है तो हमें अपनी सारी शक्ति लगाकर—भारत की उसी प्राचीन भाव-चित्रण-कला के साधन-स्वरूप—अभिनय शैली की उपयोगिता का प्रचार करना पड़ेगा। नाट्यकार और रंग-प्रबंधक की आत्मा का एकीकरण ही हमारे निकट स्वतंत्र हिन्दी-मंच का निर्माण हो सकने का साधन है; और दूसरा नहीं।

६

वादत्रयी

(रहस्यवाद, छायावाद एवं संकेतवाद)

जिस प्रकार नदी बहती रहने पर ही नदी नाम को सार्थक करती है उसी प्रकार समाज का अस्तित्व भी तभी है जब आदान-प्रदान की लहर उसमें उठती और गिरती रहे।



माज जिस वस्तु का नाम है वह तीन वस्तुओं का समष्टि स्वरूप है। धर्म, नीति और सामाजिकता (यहाँ सामाजिकता शब्द का भाव है—वे साधारण रहन-सहन के सिद्धान्त और व्यवहार जो आमतौर पर समाज में प्रचलित हैं) यही तीन वस्तुएँ जहाँ एकता ग्रहण कर लेती हैं। समाज का स्वरूप सम्पूर्ण हो जाता है।

धर्म, नीति और जीवनचर्या (सामाजिकता) का वैयक्तिकरूप जब सार्वजनिक रूप धारण कर लेता है तभी उसका नाम समाज पड़ता है।

जिस प्रकार वायु और जल निस्तब्ध नहीं रह सकते उसी प्रकार समाज का हृदय कभी विचार शून्य नहीं रह सकता। उसमें विचार-लहरी का ताँता कभी टूटने नहीं पाता।

आदान-प्रदान का भाव सनातन है। मानव-शरीर में, सृष्टि के विकास में, समाज की स्थिति में, विश्व के संचालन में, प्रत्येक में ही यह आदान-प्रदान-व्यापार होता आया है।

सामाजिक-क्षेत्र में इसी आदान-प्रदान-विक्रिया को

'विचारधारा' नाम दिया गया है। जब यह 'विचार-धारा' शब्द अपने विस्तृत दायरे में पहुँचता है तो पूर्व और पश्चिम के नैतिक जीवन की पर्यालोचना आरंभ हो जाती है।

पूर्व और पश्चिम का सम्मेलन या संघर्ष ही वर्त्तमान युग की सबसे बड़ी समस्या है। विश्व-जीवन की प्रगति इसी संघर्ष के प्रतिफल स्वरूप में हमारे समक्ष प्रकट है। जैसे जैसे पूर्व और पश्चिम का सामीप्य दृढ़ होता है, भावना परिवर्त्तन के रूप में आदान-प्रदान-वाद परिपुष्ट होता जाता है। वस्तुतः पूर्वीय आध्यात्मयुग और पाश्चात्य भौतिकयुग दोनों का एकीकरण ही वर्त्तमानयुग का विकास सूत्र है।

सर्वप्रथम विकार, भाव में आता है। तब कहीं कार्यक्षेत्र में उसका फल दिखाई पड़ता है। अस्तु, कहने का तात्पर्य है कि उस आदान-प्रदान-प्रक्रिया का सबसे पहिला प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ा। साहित्य किसी जाति का भावना-कोष होने के नाते समाज के व्यष्टि स्वरूप—धर्म, नीति और सामाजिकता तीनों का सामंजस्य होता है। अतः दो भावनाओं का संघर्ष, दो जातियों का संघर्ष, दो राष्ट्रों का संघर्ष एक दूसरे के भावना-कोष (साहित्य), जीवन-शैली, नीति और धर्म तक प्रभाव डालता है। यह बात दूसरी है कि अधिक जीवनी शक्ति जिस जाति के भावों में होगी वह उतनी ही ज्यादा निर्लिप्त रह सकेगी। परन्तु साधारण

नियम यही है कि विजित जाति पर विजेता जाति का प्रभाव अधिक पड़ता है। परन्तु भारत इस नियम का सर्वथा तो नहीं बल्कि कुछ अंशों में अपवाद स्वरूप ही है।

पूर्व की जीवन-ज्योति का आधार अभी तक आध्यात्मवाद है। जब कि पश्चिम विकृत-भावुकता के बल पर व्यवहारवाद के असत्य नाम से जीवन-जागृत करने में सफलता का ठेकेदार बन रहा है। परन्तु लक्ष्य दोनों का यही है कि विश्व-जीवन में साँस दीर्घ काल तक अक्षुण्ण रूप से चलती रहे। किन्तु वर्त्तमान में अंधकार दोनों ओर है। पश्चिम में जीवन का एकमात्र आधार भौतिकवाद है और पूर्व में धार्मिक भावना का अतिरेक।

जब पूर्व और पश्चिम में भावों के आदान-प्रदान की मात्रा ज़ोर पकड़ गयी तब पूर्व में एक नवीन भावनाकोष का जन्म हुआ। और यही नवीन भावना-कोष है वादत्रयी का विवाद खड़ा करने का हेतु।

नवीन भावना-कोष को हम नवीन विचारधारा भी कह सकते हैं। परन्तु विचारधारा एक प्रकार से मस्तिष्क का विकार होता है जब कि भावना हृदय का संस्कृत एवं मूर्त्तस्वरूप।

रहस्यवाद, विचारतत्त्व और अनुभूतितत्त्व दोनों का सं-

प्रस्तुत लेख के विवेचनीय वादत्रय में रहस्यवाद का स्थान पहिला है। रहस्यवाद का विकास हृदय और मस्तिष्क दोनों से सम्बन्ध रखता है। जहाँ तक रहस्य का अर्थ शुद्ध आत्मतत्त्व से सम्बन्धित हैं वहाँ तक रहस्यवाद का क्षेत्र हृदय रहता है।

धर्म-स्वरूप वह साधन है जो ईश्वर या ब्रह्म से संयोगिक साक्षात्कार स्थापित करता है।

और जहाँ इसका हृदय से सम्बन्ध हटने लगता है वहाँ विचारतत्त्व का प्राधान्य बढ़ने के कारण यही रहस्यवाद मस्तिष्क का विषय बनने लगता है।

मनुष्य की रचना का मूल्य हृदय और मस्तिष्क की सूक्ष्म किन्तु सरहस्यमय स्थिति पर ही है। इन दोनों ही अङ्गों में विकार होना संसार में प्रवर्तित होने का श्रीगणेश है। भावना हृदय की अयत्नसाध्य सूक्ष्म क्रिया है और विचार-तत्व (तथ्यातथ्त निर्णय) मस्तिष्क के विकास क्रम के अनुसार स्वतः प्रस्फुटित, विवेक-कोष के ज्ञानतन्तुओं की कोमल प्रकम्पना है। वस्तुतः रहस्यवाद का अधिक सम्बन्ध है हृदय से ही। अन्तरात्मा के शुद्ध स्वरूप का सौंदर्य के सहारे सहसा स्मृतिगम्य हो सकना ही रहस्यवाद कहलाता है। अथवा ब्रह्म या ईश्वर की काल्पनिक प्रतिमा का संयोगिक साक्षात्कार तथा स्पष्ट अभेद्य एवं तात्कालिक अनुभव ही रहस्यवाद है।

यह तो हुआ रहस्यवाद का वास्तविक स्वरूप। रहस्यवाद का यह स्वरूप भारत के प्राचीनकालीन ऋषि, महर्षियों ने खूब समझा है। हिन्दी-साहित्य में भी दादू, कबीर, नानक और दूसरे-दूसरे भक्त एवं सन्त कवियों ने रहस्यवाद के इसी स्वरूप को खोलकर समझाने का प्रयत्न किया है। प्रकृति और परमेश्वर का रहस्योद्घाटन करने में सप्रयत्न रहकर जहाँ तक हो सका इस ओर पर्याप्त खोज की है।

परन्तु जहाँ हृदय का कृत्रिम स्वरूप मस्तिष्क के विवेक-कोष पर अपना असत्य आरोप करता है

वहाँ से जो रहस्यवाद नाम का एक नवीनवाद निकलता है वह है वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य में प्रसिद्धि पानेवाला 'छायावाद'।

छायावाद ब्रह्म या ईश्वर के साथ आत्मा का संभवतः संयोग-साक्षात्कार और तात्कालिक अनुभव का सिद्धान्त है। क्योंकि हृदय का आडम्बर पूर्ण आरोप और मस्तिष्क का विवेक पूर्ण वैशिष्ठ्य ही इसके जनक हैं।

छायावाद उस सिद्धान्त का अन्वेषण प्रयत्न है जिसके द्वारा रहस्यवाद की ओर उन्मुक्त होने का उत्साह होकर ब्रह्म या ईश्वर के साथ संभवतः संयोग की आशा पैदा हो सकती है।

छायावाद के लिये बेलजियन कवि मैटरलिंक कहता है:—

Those institutions, grasps of guess,
Which pull the more into the less,
Making the finite comprehand infinity.

जब से पूर्व और पश्चिम का भाव-संघर्ष हुआ है अंग्रेजी भाषा के 'Mysticism' शब्द के 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' दोनों ही पर्यायवाची समझे जाते हैं।

वैसे तो रहस्यवाद शब्द अपने मूल अर्थ में भावना या आन्तरिक अनुभूति का नाम है, जिसमें मनुष्य दृश्य-जगत् की मूक प्रेरणा से अभिभावित होकर सामान्यसत्ता की खोज करके उसके साथ साक्षात् एवं संयोगिक सम्बन्ध की स्थापना कर लेने पर एक अलौकिक-वैभव को प्राप्त हो जाता है।

एक सच्चे रहस्यवादी के लिये संसार के सभी पदार्थ उस अनन्त सत्ता के द्योतक हैं जो स्वयम् एक बड़ा भारी रहस्य है। जिस प्रकार एक कलाकार की कृति का सौंदर्य उसके स्वयं के स्वरूप का

अनुभव करा देने में समर्थ होती है उसी प्रकार दृश्य-विश्व उस परम श्रेष्ठ कलाकार का भाव सामीप्य स्थापित कर देने में श्रेष्ठ साधन का कार्य करता है। इसका कारण है कि उस कलाकार की कला की कलात्मकता पर मुग्ध होकर हम जब अपने स्वरूप को भुला देते हैं तब हमारा इस कला के—जिसे देखकर हम निजत्व से परे पड़ जाते हैं—कलाकार के साथ तादात्म्य स्थापित होने से साक्षात् संयोगिक एवं स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

यद्यपि यह सब कुछ होता वाह्य जगत् के संसर्ग से ही है परन्तु इसकी अन्तिम अवस्था—जो परमानन्द दशा होती है उसका इन बाह्य (सांसारिक) उपकरणों से कोई सम्बन्ध शेष नहीं रह जाता है। यह है काव्य में रहस्यवाद का स्थान।

जहाँ रहस्यवाद की प्राथमिक अवस्था उपस्थित होकर रह जाती है, वहाँ रहस्यवाद का नाम 'छायावाद' होता है। वर्तमान हिन्दी-साहित्य संसार में इसी 'छायावाद' की छाया नज़र आती है। बल्कि इतना भी नहीं। अब तो लोग ऐसी रचना को छायावादी रचना कहने लगे हैं जिसका कोई अर्थ स्पष्ट नहीं हो, क्लिष्टता जिसका आधार हो, अनर्थ जिसकी आत्मा हो।

कहाँ वह विश्वात्मभाव जहाँ रहस्य का उद्गम होता है। और कहाँ उसकी वर्तमान परिभाषा!

यहाँ छायावाद और रहस्यवाद का भेद स्पष्ट करने के लिये यह कहा जा सकता है कि विश्वात्म का ऐसा विवेचन जिसमें विचारतत्त्व का आडम्बरपूर्ण हृदय

से संयोग रहे, वह छायावाद। और जहाँ अनुभूति-पूर्ण संयोग रहे वह रहस्यवाद है।

रहस्यवाद का स्वरूप बदलते-बदलते छायावाद और छायावाद का सिद्धान्त फिसलते-फिसलते संकेतवाद का रूप ग्रहण कर लेता है। हिन्दी-साहित्य में आजकल या तो छायावादी या संकेत-वादी दो ही प्रकार के कवियों का प्राचुर्य है।

संकेतवाद बिम्ब-ग्रहण क्रिया का सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट एवं मूर्तस्वरूप है। यह एक प्रकार की शैली विशेष है जो आदर्श-तत्त्व की सृष्टि करने में समर्थ है।

संकेतवाद (Symbolism) एक प्रकार का कविता का वह ढंग हो सकता है जिसमें प्रकृत के द्वारा अप्रकृत का बोध संकेत रहता है। इस शैली को 'मूर्त्तवाद' भी कह सकते हैं। हृदय की भावना का इज़हार किसी तद्रूप संकेत के सहारे प्रस्फुटित होता है। दृश्य-जगत् के पदार्थों का प्रतिबिम्ब या छाया संकेतवादी कवि के विचरण-क्षेत्र की सीमा बनाते हैं।

संकेतवादी का कार्य प्राकृतिक पदार्थों की कलात्मकता खोजना है। संसार का कोई भी पदार्थ अनुपयोगी नहीं। प्रत्येक पदार्थ की रचना एक मसलहत—रहस्य—है। इसी रहस्य को आदर्श-दृष्टि से प्रकाश में लाना संकेतवादी का उद्देश्य होता है।

संकेतवाद का क्षेत्र वाह्य-विश्व का और विचार-तत्त्व का सम्पर्कस्थल है। संकेतवादी का विचारतत्त्व जब कभी अधिक विकसित हो जाता है, वह संकेत हेतु—दृश्य पदार्थों—का लोप करके भावना की ललित-लहरियों पर उतराने लगता है।

उपर्युक्त तीनों ही वाद यद्यपि हमारे यहाँ प्राचीन-

काल में भी प्रस्तुत थे, परन्तु हिन्दी-साहित्य का वर्तमान स्वरूप—जो निस्सन्देह पूर्व और पश्चिम की टक्कर से उद्भूत विचारधारा का परिणाम है—आज इसी वादत्रय का एक अनूठा और विवादास्पदस्वरूप लेकर उपस्थित हो रहा है। अथवा यह हमारे प्राचीन आचार्यों के विचार-विनिमय-सिद्धान्त के स्वरूप में हज़ारों वर्ष पूर्व, संसार के जागने से पहिले ही, उपस्थित हो चुके हैं। यह तो बात ही दूसरी है समय के प्रभाव से उनका विलोप न होकर फिर उद्भव होने का नया साधन पाने के कारण वे नया रूप, नई परिभाषा और नया विवेचन पाकर पुराने होकर भी नये हो जायँ।

निदान विद्या में हमारे आचार्यों ने भाव-चित्रण - विधि की समीक्षा बहुत गहरी की है। हृदय का विकार मस्तिष्क के विवेक-तन्तुओं की सहायता लेकर काव्य का स्वरूप धारण करता है विचार का चित्र कल्पना-मूलक संकेत है।

साधारणतया विचारधारा के दो मुख्य विभाग हो सकते हैं (१) प्राज्ञानिक और (२) वैज्ञानिक। प्राज्ञानिक विचारधारा या बौद्ध-विचारों का सम्बन्ध भावना से है।

हमें शास्त्रों ने बतलाया है कि अखिल-संसार एक ऐसे हृदय का भाव-चित्र है जिसका रहस्य जानना कठिन ही नहीं दुस्साध्य है। प्राचीन अन्वेषकों ने भाव चित्रों को व्यक्त करने के लिये निदान-विद्या से कार्य लिया है।

हमारे देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भावनाओं के व्यक्ति स्वरूप हैं। भाव एक ऐसी सूक्ष्म वस्तु है जिसका कोई चित्र नहीं बन सकता। परन्तु फिर भी भाव समीक्षकों ने उनके आकार निश्चित करने की चेष्टा की है।

नवरस के लिये पहिले अध्यायों में बतला चुके हैं कि यह नव प्रकार की चित्त वृत्तियाँ हैं। सभी काव्याचार्यों ने रस को भावात्मक-वस्तु माना है। इन नव भावना प्रधान अवस्थाओं के निदान-विद्या के अनुसार रंग, स्वरूप और कार्य कल्पित किये जाकर इन्हें चित्ररूप दे दिया गया है।

आप देखते हैं, काला रंग शोक का चिह्न है। क्यों? किस सिद्धान्त के आधार पर? कालेपन से और शोक से क्या मतलब? श्वेत रंग ही कीर्ति का द्योतक क्यों माना जाय और दूसरा रंग क्यों नहीं? इन विवेचनात्मक प्रश्नों का उत्तर यही है कि निदान-विद्या ने भावनाओं को व्यक्त करने के साधन-स्वरूप यह संकेत नियत कर दिये हैं। आप देख सकते हैं दो में से दो को शेष करने पर शून्य शेष रह जाता है। यद्यपि शून्य का कोई महत्त्व नहीं परन्तु 'नास्ति' का भाव हृदय में जो विकार उत्पन्न करता है उसका संकेत यह शून्याकार (०) है। अस्तु, हमारे शास्त्रों में संकेतवाद का सूत्र इस रूप में—जो संकेत का वास्तविक और तथ्यरूप है— मिलता है।

वर्तमान संकेतवाद का सूत्र यद्यपि वही निदान विद्या है। परन्तु आजकल उसमें और वर्त्तमान संकेतवाद में रात-दिन का अन्तरस्पष्ट है। आजकल संकेतवाद को रहस्यवाद के साथ मिला देने का एकान्त एवं अविकल प्रयत्न चल रहा है। और इसका कारण है दो विचार धाराओं का संघर्ष।

विचार-वैभव पर

कतिपय

सम्मतियाँ



महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधर शर्मा जी चतुर्वेदी
व्याकरणाचार्य, प्रिंसिपेल महाराजास्
संस्कृत-कालेज, जयपुर।

श्रीयुत पं० प्रभुनारायणजी 'साहित्यरत्न' 'सहृदय' 'नाट्याचार्य' विरचित 'विचार-वैभव' पुस्तक के बहुत से अंश मैंने अवधान पूर्वक पढ़े हैं। इसमें सहृदयजी ने कविता सम्बन्धी रस आदि अनेक विषयों पर दार्शनिक रीति से मार्मिक विवेचना की है। नवीन ढंग की लेख शैली में प्राचीन विचारों का समर्थन इस पुस्तक में मिलता है। यह एक नई और महत्त्वपूर्ण बात है। अब तक नवीन ढंग से इन विषयों पर लिखी हुई जो पुस्तकें देखी गई हैं, उनमें प्रायः शब्द जाल में सिद्धान्त छिप जाता है, ग्रन्थकार का मन्तव्य क्या है—यह कई अंशों में दुर्बोध हो जाता है, किन्तु हर्ष की बात है कि सहृदयजी की इस पुस्तक में यह दोष नहीं है। आपकी भाषा में सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रतिभास है। कुछ

स्थानों में आपसे मेरा मतभेद अवश्य है, किन्तु ऐसी महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखकर सहृदयजी ने हिन्दी साहित्य की अच्छी सेवा की है—यह कहने में मुझे कुछ भी संकोच नहीं। सहृदयजी की मननशीलता पर मुझे पूर्ण परितोष है। मैं आशा करता हूँ कि हिन्दी साहित्य क्षेत्र में यह पुस्तक सुयोग्य प्रतिष्ठा का उपयुक्त स्थान प्राप्त करेगी, और सहृदयजी के द्वारा आगे भी ऐसी साहित्य सेवाएँ होती रहेंगी।

श्रीयुत प्रोफ़ेसर दयाशङ्करजी दुबे, एम०ए०, एल०एल०बी०
अर्थशास्त्र-अध्यापक, प्रयाग-विश्वविद्यालय,
तथा
भूतपूर्व परीक्षा-मन्त्री हिन्दी-विश्वविद्यालय
प्रयाग

यह पुस्तक विचारपूर्ण है और बड़े परिश्रम से लिखी गई है। इस उत्तम पुस्तक के लिखने के लिये मैं सहृदयजी को हार्दिक बधाई देता हूँ। सम्मेलन परीक्षाओं के तथा अन्य विश्व-विद्यालयों की उच्च परीक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

Shriyut Anand Shanker Bapu Bhai Dhruva, M.A.,
Pro-Vice-Chancellor,
Benares Hindu University.

"Vichar-Vaibhava" is a good book. It brings certain new points of view to bear on the principles of Sanskrit Literary criticism. I wish, however, it had a more modest title.

Mr. Som Nath Gupta, M. A.,
Lecturer in-Hindi-Literature.
Jaswant College, JODHPUR.

I have gone through "Vichar-Vaibhava" of Mr. Prabhu Narain Sharma and the impression his book has left on me is very good. It is a pleasure to see Mr. Sharma putting all the necessary requisites of art-criticism relating to Literature in such a short volume. His style is decent and expression beautiful combined with a flow in language—only I wished the language to have been less difficult.

I am confident Mr. Sharma will go on enriching Hindi with his writings which some day are bound to be real acquisitions in our Literature.

I wish him success and hope that his "Vichar-Vaibhava" will be appreciated by both scholars and students alike.
